अपभ्रंश भारती

शोध-पत्रिका

नवम्बर, 1996

8

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

राजस्थान

अपभ्रंश भारती

वार्षिक
शोध-पत्रिका

नवम्बर, 1996

सम्पादक मण्डल
श्री नवीनकुमार बज
श्री रतनलाल छाबड़ा
श्री महेन्द्रकुमार पाटनी
डॉ. कैलाशचन्द जैन
श्री ज्ञानचन्द बिल्टीवाला

प्रबन्ध सम्पादक
श्री कपूरचन्द पाटनी
मंत्री, प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावारजी

सम्पादक
डॉ. कमलचन्द सोगाणी
श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका
डॉ. गोपीचन्द पाटनी

सहायक सम्पादक
सुश्री प्रीति जैन

प्रकाशक

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

जैनविद्या संस्थान

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

वार्षिक मूल्य
30.00 रु. सामान्यत:
60.00 रु. पुस्तकालय हेतु

फोटोटाइप सैटिंग
कॉम्प्रिन्ट, जयपुर

मुद्रक
जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.
जयपुर

विषय सूची

क्र.सं.	विषय	लेखक का नाम	पृ.सं.
	प्रकाशकीय		
	सम्पादकीय		
	जय तुहुँ गइ	महाकवि स्वयम्भू	(x)
	जय हो, देव! तुम्हारी	श्री मिश्रीलाल जैन	(xi)
1.	अपभ्रंश साहित्य की संस्कृति और समाज-शास्त्र	डॉ. शम्भूनाथ पाण्डेय	1
2.	अपभ्रंश कथा साहित्य के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी साहित्य की मिथकीय कथानक रूढ़ियाँ	डॉ. (श्रीमती) पुष्पलता जैन	11
3.	दिणिंदु हुउ तेयमंदु	मुनि नयनन्दी	20
4.	अपभ्रंश का लाड़ला छन्द दोहा और उसकी काव्य-यात्रा	डॉ. त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी'	21
5.	अपभ्रंश साहित्य में वस्तु-वर्णन	डॉ. इन्द्र बहादुर सिंह	27
6.	पर अत्थमिउ	मुनि नयनन्दी	42
7.	संत साहित्य और जैन अपभ्रंश काव्य	डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी	43
8.	अपभ्रंश खण्डकाव्यों में प्रकृति-वर्णन	कु. रेनू उपाध्याय	51
9.	बहुपहारेहिँ सूरु अत्थमियउ	मुनि नयनन्दी	58
10.	अपभ्रंश साहित्य और उसकी कृतियाँ	प्रो. डॉ. संजीव प्रचण्डिया	59
11.	पउमचरिउ के हिन्दी अनुवाद पर कुछ टिप्पणियाँ	श्री देवनारायण शर्मा	65
12.	करकंडचरिउ में निदर्शित व्यसन-मुक्ति-स्वर की वर्तमान सन्दर्भ में उपयोगिता	डॉ. (कु.) आराधना जैन 'स्वतंत्र'	75

अपभ्रंश भारती

(शोध-पत्रिका)

सूचनाएँ

1. पत्रिका सामान्यत: वर्ष में एक बार महावीर निर्वाण दिवस पर प्रकाशित होगी।

2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसंधान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा।

3. रचनाएँ जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्राय: उसी रूप में प्रकाशित किया जाएगा। स्वभावत: तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का होगा।

4. यह आवश्यक नहीं कि प्रकाशक, सम्पादक लेखकों के अभिमत से सहमत हों।

5. रचनाएँ कागज के एक ओर कम से कम 3 सें. मी. का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए।

6. अस्वीकृत/अप्रकाशित रचनाएँ लौटाई नहीं जाएँगी।

7. रचनाएँ भेजने एवं अन्य सब प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता –

सम्पादक

अपभ्रंश भारती

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी

सवाई रामसिंह रोड

जयपुर-302004

प्रकाशकीय

अपभ्रंश साहित्य और भाषा के अध्येताओं के समक्ष अपभ्रंश भारती का आठवाँ अंक सहर्ष प्रस्तुत है।

छठी शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक सम्पूर्ण भारत में अपभ्रंश भाषा में साहित्य-रचना होती रही। अपभ्रंश साहित्य में लोक-जीवन के तथ्य बहुत अधिक घुले-मिले हैं। इस साहित्य में सांस्कृतिक तत्वों को बड़ी विशिष्टता के साथ पल्लवित किया गया है। समूचा अपभ्रंश साहित्य आस्था व अनुभूति से ओत-प्रोत है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है।

अपभ्रंश साहित्य के बहुआयामी महत्व को समझते हुए ही दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा अपभ्रंश साहित्य अकादमी की स्थापना सन् 1988 में गई। अपभ्रंश भाषा के अध्ययन-अध्यापन को समुचित दिशा प्रदान करने के लिए अपभ्रंश रचना सौरभ, प्राकृत रचना सौरभ, अपभ्रंश काव्य सौरभ, पाहुड दोहा चयनिका आदि पुस्तकें प्रकाशित हैं। इसी क्रम में प्रौढ़ अपभ्रंश रचना सौरभ व अपभ्रंश अभ्यास सौरभ अतिशीघ्र प्रकाश्य हैं। पत्राचार के माध्यम से अखिल भारतीय स्तर पर अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम तथा अपभ्रंश डिप्लोमा पाठ्यक्रम विधिवत संचालित हैं। अपभ्रंश में मौलिक लेखन को प्रोत्साहन देने के लिए प्रतिवर्ष 'स्वयंभू पुरस्कार' प्रदान किया जाता है।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य के प्रचार के लिए 'अपभ्रंश भारती' पत्रिका का प्रकाशन एक समयोचित पहल है। विद्वानों द्वारा अपभ्रंश साहित्य पर की जा रही शोध-खोज को 'अपभ्रंश भारती' के माध्यम से प्रकाशित करना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। इस अंक में अपभ्रंश साहित्य के विविध पक्षों पर विद्वान लेखकों ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। हम उन सभी के प्रति आभारी हैं।

पत्रिका के सम्पादक, सहयोगी सम्पादक एवं सम्पादक मण्डल धन्यवादार्ह हैं। इस अंक के मुद्रण के लिए जयपुर प्रिन्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर धन्यवादार्ह है।

कपूरचन्द पाटनी
मंत्री

नरेशकुमार सेठी
अध्यक्ष

प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

सम्पादकीय

''अपभ्रंश को आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की जननी होने का श्रेय प्राप्त है। अपभ्रंश की कुक्षि से उत्पन्न होने के कारण हिन्दी का उससे अत्यन्त आन्तरिक और गहरा सम्बन्ध है। अत: राष्ट्रभाषा हिन्दी की मूल प्रकृति और प्रवृत्ति से परिचित होने के लिए अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की अनिवार्यता सुधी अध्येताओं और अनुसंधित्सुओं के लिए हमेशा बनी रहेगी।''

''अपभ्रंश का कवि अपने समय और समाज की प्रतिगामी शक्तियों को पहचानते हुए गतिशील प्रक्रिया को शक्ति और सामर्थ्य देता रहा है। सामाजिक धरातल पर सर्वोत्तम की स्थापना का पूरा प्रयास करता रहा है। सांस्कृतिक प्रयोजन में देवचरित के स्थान पर शलाका पुरुषों के चरित, सामन्ती जीवन की जगह लोकजीवन की उपस्थिति और दार्शनिक परिवेश में मानवतावादी दृष्टिकोण को रेखांकित करता रहा है।''

''अपभ्रंश का साहित्य चाहे जैन हो या सिद्ध अथवा इहलौकिक, सर्वत्र उपर्युक्त सामाजिक भावना से संचरित-सम्प्रेषित हुआ है। उसका साहित्य समाज के हित के लिए समर्पित है, उसका त्याग समाज-सापेक्ष है। उसके साहित्य का समाजशास्त्र लोकहित की भावना से ओत-प्रोत है।''

''अपभ्रंश के कवि का समाजशास्त्र लौकिक धरातल पर सुदृढ़ है। तथाकथित जो मूल्य हैं उनकी तुलना में वे जीवन-मूल्य कहीं अधिक सार्थक हैं जो सेवा, त्याग, समर्पण में अपने सिर को नवाते हैं, उसका पालन करते हों - वह चाहे माँ हो या मातृभूमि।''

''अपभ्रंश कवियों की भाषा की प्रतिबद्धता है - साधारण लोगों तक अपनी रचना को पहुँचाना। भले ही इसके लिए उन्हें व्याकरण, अलंकारशास्त्र और पिंगलशास्त्र छोड़ना पड़े। इस महान उद्देश्य में अपभ्रंश कवियों का आत्मविश्वास देखते ही बनता है। लोक-सुख में ही अपभ्रंश कवियों का आत्म-सुख है। यही उनका समाज है, यही उनकी संस्कृति। उनका पूर्ण विश्वास था कि इसके बिना सामाजिक-सांस्कृतिक रूपान्तरण किया ही नहीं जा सकता। इसके लिए वे अपने से बाहर निकलकर वृहत्तर अनुभव-संसार में गये। समाज में गाई जानेवाली प्रचलित लोकधुनों को काव्य का स्वरूप दिया। संधि, कुलक, चउपई, चौपाई, आराधना, रास, चाँचर, फाग, स्तुति, स्तोत्र, कथा, चरित, पुराण आदि काव्यरूपों में सामाजिक जीवन और जगत की अनेक भावनाओं, विचार-सरणियों, चिन्तन की चिन्तामणियों, सहज साधना एवं सिद्धि पद्धतियों, धार्मिक आदर्शों, सास्कृतिक सरणियों को सशक्त एवं रागरंजित वाणी प्रदान की।

''प्राकृत-अपभ्रंश कथा साहित्य की एक लम्बी परम्परा है जिसका प्रारंभ आगम काल से देखा जा सकता है। उसमें उपदेशात्मकता और आध्यात्मिकता की पृष्ठभूमि में आचार्यों ने लोकाख्यानों का भरपूर उपयोग किया है।''

''अपभ्रंश काल में कथाओं का फलक और विस्तृत हो गया। उनमें लोकजीवन के तत्त्व और अधिक घुल-मिल गये। काल्पनिक कथाओं के माध्यम से जीवन के हर बिन्दु को वहाँ गति और प्रगति मिली। पारिवारिक संघर्ष, वैयक्तिक संघर्ष, प्रेमाभिव्यंजना, समुद्र-यात्रा, भविष्यवाणी, प्रियमिलाप, स्वप्न, सर्पदंश, कर्मफल, अपहरण जैसे सांसारिक तत्त्वों की सुन्दर अभिव्यक्ति इन कथाओं में हुई है। इस दृष्टि से भविसयत्तकहा, विलासवईकहा, सिरिपालकहा, जिणयत्तकहा, महापुराण, णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ, करकण्डचरिउ, धम्मपरिक्खा आदि कथाकाव्य स्मरणीय हैं।''

''कथानक रूढ़ियों के अवधारण के पीछे कथानक को मनोरंजक और गतिशील बनाने का उद्देश्य छिपा हुआ है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लोकाख्यान, लोक-विश्वास और लोक-रीतियों का समुचित उपयोग किया जाता रहा है। यह आवश्यक नहीं है कि लोकाख्यानों में यथार्थता और वैज्ञानिकता रहे पर इतना अवश्य है कि उनके गर्भ में संभावना और मनोवैज्ञानिकता अवश्य भरी रहती है। चामत्कारिता, असंभवनीयता, अतिमानवीयता और तथ्यात्मकता जैसे तत्त्वों का आधार लेकर कथानक को रुचिकर बना लिया जाता है और सामुद्रिक यात्रा, अपहरण, काष्ठफलक द्वारा प्राणरक्षा, नायक-नायिका का विवाह या मिलन जैसी निजंधरी घटनाओं को अन्तर्भूत कर स्वप्न, शकुन आदि से सम्बद्ध विश्वासों के माध्यम से आध्यात्मिकता का संनिवेश किया जाता है। इसी संनिवेश में जीवन की मनोरम व्याख्या कर दी जाती है।''

''ये रूढ़ियाँ काव्यात्मक, कलात्मक और कथानक-रूप हुआ करती हैं। काव्यात्मक रूढ़ियों को 'कवि-समय' कहा जाता है जिनका उपयोग कविगण अपने अभिजात साहित्य में करते आये हैं। कलात्मक रूढ़ियों का प्रयोग संगीत, मूर्ति और चित्रकला के क्षेत्र में होता आया है। इसी तरह कथानक रूढ़ियों में लोकाख्यानगत अन्य ऐसे कल्पित तत्त्व आते हैं जिनका उपयोग तत्कालीन संस्कृति को दिग्दर्शित कराने में किया जाता है। इनमें से कलात्मक रूढ़ियों को छोड़कर शेष दोनों प्रकार की (काव्यात्मक और कलात्मक) रूढ़ियों की यात्रा प्राकृत कथा साहित्य से प्रारंभ होती है और संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी जैसी आधुनिक भाषाओं के साहित्य में उनके विभिन्न आयाम दिखाई देने लगते हैं।''

''अपभ्रंश-साहित्य विविध काव्यरूपों तथा मात्रा-छन्दों का प्रेरक और जन्मदाता रहा है। इसके प्रणेता जैन-अजैन कवियों और मुनियों ने लोक-मानस से निःसृत न जाने कितने लोक-गीतों की धुनों, लयों और तुकों के आधार पर अजाने-अनगिनती मात्रा-छन्दों को नाम दिया और इस प्रकार एक नूतन छन्द-शास्त्र ही गढ़ दिया। परवर्ती हिन्दी साहित्य इसके लिए इसका चिर-ऋणी रहेगा। छन्द-शास्त्र के साथ लोक-संगीत का यह नूतन परिपाक इनकी नित-नवीन मौलिक उद्भावना थी। इन मात्रा-छन्दों में इस काल में दोहा सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ और अपभ्रंश का लाड़ला छन्द बन गया।

''अपने विकास-क्रम में दोहा दो काव्यरूपों में प्रयुक्त हुआ है - एक मुक्तक काव्यरूप और दूसरा प्रबन्ध प्रणयन की दृष्टि से, और दोनों ही रूपों में यह पश्चिमी अपभ्रंश का ही प्रभाव है। तभी तो राजस्थानी के 'ढोला-मारू-रा-दूहा' लोक-गीतात्मक-प्रबन्ध का प्राणाधार बना। पूर्वी अपभ्रंश में सिद्धों की परम्परा नौवीं-दसवीं सदी में नाथ-साहित्य में परिणत हुई, किन्तु इसमें भी दोहा-छन्द का प्रयोग नहीं मिलता। स्पष्ट है दोहा पश्चिमी अपभ्रंश का छंद है और वहीं से परवर्ती साहित्य में इसका विकास हुआ। इस प्रकार यह अपनी काव्य-यात्रा में एक ओर मुक्तक के रूप में जैनों के आध्यात्मिक और नीतिपरक साहित्य का वाहक बना, तदुपरि हिन्दी के मुक्तक-काव्य को दूर तक प्रभावित किया और दूसरी ओर कभी अपभ्रंश की कड़वक-शैली के रूप में प्रबन्ध-प्रणयन की परम्परा को विकसित करता रहा तो कभी 'रोला' छन्द के साथ नूतन शिल्प का विधान करता रहा।''

''अपभ्रंश कवियों ने महाकाव्यों, चरितों और कथाकाव्यों में भरपूर वस्तु-वर्णन किया है। जौनपुर के शाही महल के वर्णन में विद्यापति ने भारतीय और मुसलमानी भवन-निर्माण कला की जानकारी का सूक्ष्म परिचय दिया है।''

''महापुराण पुष्पदन्त द्वारा रचा गया महाकाव्य है। इसमें जनपदों, नगरों और ग्रामों का वर्णन बड़ा ही भव्य बन पड़ा है। कवि ने नवीन और मानव-जीवन के साथ संबद्ध उपमानों का प्रयोग-कर वर्णनों को बड़ा सजीव बनाया है।''

''अपभ्रंश के कवि जागरूक एवं सूक्ष्म-द्रष्टा कवि थे। वे जहाँ भारतीय वस्तु-वर्णन की शैली को पूर्णतः हृदयगंम किये थे, वहीं पर तुर्की जीवन-प्रणाली एवं वस्तु-वर्णन से भी परिचित थे। वे राजदरबारों की पद्धति, भवन-निर्माण कला, उद्यान, युद्ध, अस्त्र-शस्त्र आदि से पूर्णतः परिचित थे। अपभ्रंश साहित्य में जहाँ शृंगार के विविध रूपों का सूक्ष्म और मंजुल-मनोहर चित्रण मिलता है, वहीं प्रशस्ति काव्यों का चमत्कारपूर्ण, टंकारभरी ओजस्वी चित्र भी देखने को मिलता है। इन्हीं कारणों से अपभ्रंश-साहित्य को मध्यकालीन भारतीय जीवन का सांस्कृतिक दर्पण कहा जाता है।''

''अपभ्रंश के खण्डकाव्यों में प्रकृति-वर्णन परम्परागत रूप में विषय की आवश्यकतानुसार ही परिलक्षित होता है। काव्य-सौन्दर्य एवं वस्तु-वर्णन की दृष्टि से अपभ्रंशकालीन कवियों के ये वर्णन यथास्थान अपनी सार्थकता सिद्ध करने में समर्थ हैं।''

''कतिपय अपभ्रंशबद्ध रचनाओं में 'संत' का-सा स्वर श्रुतिगोचर होता है। चरमलक्ष्य से विच्छिन्न फलतः विजड़ित एवं रूढ़ प्रायः आचार-बाहुल्य के प्रति एक तीखी प्रतिक्रिया और अन्तर्याग के प्रति लगाव का संत-संवादी विद्रोही स्वर कतिपय रचनाओं में विद्यमान है। पाहुडदोहा, योगसार, परमात्मप्रकाश, वैराग्यसार, आणन्दा, सावयधम्म दोहा आदि रचनाएँ ऐसी ही हैं। इनमें संत-संवादी मन:स्थिति का प्रभाव या प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई पड़ता है। जिसप्रकार अन्य रहस्यवादी रचयिताओं ने क्रमागत रूढ़ियों एवं बाह्याचारों का खण्डन करते हुए पारमार्थिक

तत्त्वों की उपलब्धि के अनुरूप पलों और दिशाओं को महत्व दिया है - यही स्थिति इन जैन मुनियों की भी है। लगता है कि इस अवधि में आचार या साधन को ही साध्यता की कोटि प्राप्त होती जा रही थी, फलतः कट्टर साम्प्रदायिक लकीरों और रेखाओं के प्रति इनके मन में भी उग्र आक्रोश था और उस झुँझलाहट को वे उसी उग्र स्वर में व्यक्त करते हैं जिस स्वर में सिद्धों-नाथों और निर्गुणियों ने आक्रोश/गर्म उद्‌गार व्यक्त किये थे। प्रो. हीरालाल जैन ने ठीक लिखा है - इन दोहों में जोगियों का आगम, अचित्-चित्, देह, देवली, शिव-शक्ति, संकल्प, विकल्प, सगुण-निर्गुण, अक्षर बोध-विबोध, वाम-दक्षिण अध्व, दो पथ रवि-शशि, पवन, काल आदि ऐसे शब्द हैं और उनका ऐसे गहनरूप में प्रयोग हुआ है कि उनमें हमें योग और तान्त्रिक ग्रन्थों का स्मरण हुए बिना नहीं रहता।''

''भारतीय सामाजिक, धार्मिक आचार-संहिता में जहाँ महापाप-रूप दुराचार से परहेज किया गया है वहीं पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक संस्कृति/परम्परा में सदाचार की आवश्यकता और महत्त्व सहज स्वीकार किया गया है। इसीलिए भारतीय संतों, नीतिकारों, साहित्यकारों ने अपने उपदेशों द्वारा, साहित्य-सृजन द्वारा सदाचारमय जीवन जीने की प्रेरणा दी है जिससे मानव सभ्य-सामाजिक जीवन की स्थापना के साथ खतरनाक बाधाओं से भी मुक्त रहे। उसे दुराचार/अनैतिक दुष्कृत्यों के दुष्प्रभावों को हृदयंगम कराते हुए उनसे बचने की प्रेरणा/सुझाव भी दिये हैं। इसका मूलकारण है कि वे जनजीवन के चारित्रिक एवं नैतिक स्तर को उन्नत करने के आकांक्षी थे। भारतीय संत-परम्परा में जैनाचार्यों/नीतिकारों/विद्वानों/लेखकों ने सदाचार की प्ररूपणा करनेवाले श्रमणाचार/श्रावकाचार ग्रन्थों का प्रणयन किया है, ग्रन्थों की टीकाएँ की हैं, सुभाषितों के माध्यम से उसे स्पष्ट किया है तथा कथाओं के माध्यम से भी सदाचार के महत्त्व का प्रतिपादन कर दिया है। ऐसे ही एक कवि हैं मुनि कनकामर जिन्होंने अपभ्रंश में 'करकंडचरिउ' काव्य की रचनाकर पाठकों को साहित्य का रसास्वादन तो कराया ही है साथ ही उसे नीति, सदाचार एवं धार्मिक तत्त्वों से पुष्टकर अमानवीय, असामाजिक, अनैतिक, हिंसक आचरण को छोड़कर मानवीय सत्य आचरण अपनाकर सुखी एवं स्वस्थ जीवन-निर्माण हेतु निदर्शन दिया है।''

जिन विद्वान लेखकों ने अपनी रचनाएँ भेजकर अंक के प्रकाशन में हमें सहयोग किया है हम उनके आभारी हैं।

संस्थान समिति, सम्पादक-मण्डल एवं सहयोगी कार्यकर्त्ताओं के भी आभारी हैं। मुद्रण हेतु जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि., जयपुर धन्यवादार्ह है।

- डॉ. कमलचन्द सोगानी

स्तुति

जय तुहुँ गइ तुहुँ मइ तुहुँ सरणु।
तुहुँ माय वप्पु तुहुँ वन्धु जणु॥
तुहुँ परम-पक्खु परमत्ति-हरु।
तुहुँ सव्वहुँ परहुँ पराहिपरु॥

तुहुँ दंसणे-णाणे-चरित्ते थिउ।
तुहुँ सयल-सुरासुरेहिँ णमिउ॥
सिद्धन्तें मन्तें तुहुँ वायरणें।
सज्झाए झाणें तुहुँ तवचरणें॥

अरहन्तु वुद्धु तुहुँ हरि हरु वि तुहुँ अण्णाण-तमोह-रिउ।
तुहुँ सुहुमु णिरञ्जणु परमपउ तुहुँ रवि वम्भु सयम्भु सिउ॥

– **महाकवि स्वयम्भू** (प.च. 43.19.5-9)

– जय हो, तुम (मेरी) गति हो, तुम (मेरी) बुद्धि हो, तुम (मेरी) शरण हो। तुम (मेरे) माँ-बाप हो, तुम बंधुजन हो। तुम परमपक्ष हो, दुर्मति के हरणकर्ता हो। तुम सब अन्यों से (भिन्न हो), तुम परम आत्मा हो।

– तुम दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित हो। सकल सुर-असुर तुम्हें नमन करते हैं। सिद्धान्त, मन्त्र, व्याकरण, स्वाध्याय, ध्यान और तपश्चरण में तुम हो।

– अरहन्त, बुद्ध तुम हो, विष्णु और महादेव और अज्ञानरूपी तिमिर के रिपु (शत्रु) तुम हो। तुम सूक्ष्म, निरंजन और मोक्ष हो, तुम सूर्य, ब्रह्मा, स्वयंभू और शिव हो।

जय हो, देव! तुम्हारी जय हो . . .

- श्री मिश्रीलाल जैन, एडवोकेट

जय हो, देव! तुम्हारी जय हो,
गति हो तुम, प्रज्ञा हो मेरी,
तुम ही मात्र शरण हो,
मात-पिता-बन्धु तुम मेरे,
देव तुम्हारी जय हो, जय हो . . .।

परमपक्ष है देव! तुम्हारा,
कुमति के हर्ता हो,
परम आत्मा भिन्न सर्व से,
देव तुम्हारी जय हो, जय हो . . .।

दर्शन-ज्ञान-चारित में स्थित,
सुर-नर से वन्दित हो,
छंद, भाव सब बँधे हो जिसमें,
तुम वह व्याकरण हो,
देव तुम्हारी जय हो, जय हो . . .।

तंत्र-मंत्र, सिद्धान्त-ध्यान में,
सामायिक में तुम हो,
ताल-छन्द नश्वर साँसों का,
पर तुम अजर-अमर हो,
देव तुम्हारी जय हो, जय हो . . .।

महादेव तुम, बुद्ध तुम्ही हो,
विष्णु तुम, तुम अरहंत हो,
संसृति अज्ञान-तिमिर के शत्रु,
तुम्हीं मात्र शरण हो,
देव तुम्हारी जय हो, जय हो . . .।

- आदर्श विद्यालय मार्ग
पुराना पोस्ट ऑफिस रोड
गुना-473001 (म.प्र.)

स्वयंभू पुरस्कार

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी (राजस्थान) द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर द्वारा अपभ्रंश साहित्य से सम्बन्धित विषय पर हिन्दी अथवा अंग्रेजी में रचित रचनाओं पर '**स्वयंभू पुरस्कार**' दिया जाता है। इस पुरस्कार में 11,001/- (ग्यारह हजार एक) रुपये एवं प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया जाता है।

पुरस्कार हेतु नियमावली तथा आवेदन-पत्र प्राप्त करने के लिए अकादमी कार्यालय (दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर-4) से पत्र-व्यवहार करें।

यह सूचित करते हुए हर्ष है कि वर्ष 95 का 'स्वयंभू पुरस्कार' **डॉ. त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी'** (आगरा) को उनकी कृति '**हिन्दी के आदिकालीन रास और रासक काव्यरूप**' के लिए महावीर जयन्ती मेले के अवसर पर दिनांक 4.4.96 को श्रीमहावीरजी में प्रदान किया गया।

अपभ्रंश साहित्य की संस्कृति और समाज-शास्त्र

- डॉ. शम्भूनाथ पाण्डेय

■

अपभ्रंश भाषा और साहित्य प्रारम्भ से विक्षोभ, असंतोष, असहमति और प्रतिपक्ष का पक्षधर रहा है। अपभ्रंश का कवि अपने समय और समाज की प्रतिगामी शक्तियों को पहचानते हुए गतिशील प्रक्रिया को शक्ति और सामर्थ्य देता रहा है। उसे अपने परिवेश और परिस्थितियों से पूर्णतः संतुष्टि नहीं है। अतः वह भाषा, भाव-संपदा और मानवीय मूल्य के धरातल पर बेहतर और श्रेयस्कर की माँग करता रहा है। सामाजिक धरातल पर सर्वोत्तम की स्थापना का पूरा प्रयास करता रहा है। सांस्कृतिक प्रयोजन में देवचरित के स्थान पर शलाका पुरुषों के चरित, सामंती जीवन की जगह लोकजीवन की उपस्थिति और दार्शनिक परिवेश में मानवतावादी दृष्टिकोण को रेखांकित करता रहा है। यद्यपि यह अपभ्रंश कवियों के लिए एक बड़ा दुरूह और कठिन कार्य था पर वे अपनी निर्भ्रांत दृष्टि, अडिग एवं निर्भय विश्वास से तथा अपनी रचनात्मक क्षमता से उसे संभव बनाते रहे हैं। यही कारण है अपभ्रंश का जो भी साहित्य मिला उसी से परवर्ती साहित्य को न केवल सही ढंग से समझने की शक्ति ही मिली है, अपितु पूरा ऐतिहासिक दृष्टिकोण ही बदल गया है। कड़ी ही नहीं जुड़ी है वरन नींव भी पुख्ता हुई है। एक क्रमिक विकास, ऐतिहासिक भूमिका की पृष्ठभूमि तैयार हुई है, अब यह बात प्रायः सभी साहित्येतिहासकारों ने मान ली है। आखिर वह कौनसी शक्ति है अपभ्रंश की, कौनसा वृहत्तर अनुभव रचना-संसार है उसका जिसने यह महती भूमिका तैयार की है ?

सर्वप्रथम सवाल उठता है भाषा का। साहित्य मूलतः वाणी का विधान है और वाणी की भूमिका बहुआयामी होती है। पं. रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में - ''काव्य शब्द-व्यापार है। वह शब्द-संकेतों के द्वारा ही अंतस् में वस्तुओं और व्यापारों का मूर्ति-विधान करने का प्रयत्न करता है।'' इस विविध रूप में भाषा सर्वप्रथम दैनिक प्रयोजन के लिए अपेक्षित भाव-विचार-चिंतन के सम्प्रेषण का माध्यम बनती है तो दूसरी ओर पीढ़ी-दर-पीढ़ी ज्ञान को संचित करते हुए उसे भावी-पीढ़ी के लिए सुरक्षित करती है और तीसरी ओर वह सर्जन का उपादान बनती है और 'ज्ञानराशि के संचित कोश' का आधार सिद्ध होती है। पर उसका मूल्य विशेषरूप में इस बात पर निर्भर करता है कि वह लोक-जीवन के विविध आयामों, मानव जीवन की अन्तर्वेदनाओं और समाज की सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्थितियों का कितना वास्तविक उद्घाटन तथा सही सर्जनात्मक स्वरूप दे पाती है। यहीं संवेदनशील रचनाकार भाषा से संघर्ष और असंतोष का अनुभव गहरे स्तरों पर बराबर करता आया है। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में - ''यह संघर्ष और असंतोष वस्तुतः उसका अपने-आपसे है, क्योंकि भाषा उसके संपृक्त व्यक्तित्व का अनिवार्य और अविभाज्य अंग है - मनुष्य को शेष प्राणिजगत् से पृथक् करनेवाला आधारभूत उपकरण और व्यक्ति की संसार के प्रति समस्त प्रतिक्रियाओं का कुल योग है। अस्पष्ट संवेदनों के रूप में प्रतिभाषित अनुभव को हम वास्तविक अर्थ में 'अपना' भाषा के माध्यम से ही बना पाते हैं, अर्थात् भाषा के रूप में साक्षात्कृत होने पर संवेदन हमारे विशिष्ट अनुभव क्षेत्र का अंग बन पाता है। फलतः कृतिकार के नवीनतम विकास की दिशाएँ प्रमुखरूप से उसकी भाषा-प्रयोग-विधि में प्रतिफलित होती हैं।''[१] जब यह भाषा-संघर्ष लोक-भावभूमि समाज के निचले स्तर से जुड़ता है तो पूर्व भाषा रचनाकारों को वह दूषण के रूप में दिखाई पड़ता है। पर समाजशास्त्र की भूमिका को सही रूप में समझनेवाले रचनाकार को वह भूषण के रूप में दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि अपभ्रंश भाषा के सामाजिक सम्बन्ध को पांडित्य नकारता रहा। पर भाषा की वास्तविक सार्थकता समाज के प्रवाह के साथ जुड़ने में है। अपभ्रंश की इसी विशेषता के कारण पं. राहुल सांकृत्यायन ने इसे दूषण नहीं भूषण बताया।[२] पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा कि 'हिन्दी साहित्य के जन्म के बहुत पहले अपभ्रंश या लोकभाषा में कविता होने लगी थी। शुरू-शुरू में इसको आभीरों की भाषा जरूर माना जाता था, पर बाद में चलकर यह लोक-भाषा का ही रूपान्तर हो गया।[३] इस प्रकार लोक से जुड़कर कूप-जल के घेरे को तोड़ती हुई वैयक्तिक पांडित्य या आकांक्षा से परिचालित न होकर एक बहुत बड़ी जातीय सामाजिक आशय से जुड़ती है। निजी अनुभव-संसार से बाहर निकलकर सार्वजनीन बनती है। अपभ्रंश कवियों के लिए जैसे पूरा समाज ही उसके सामने उपस्थित है। आभिजात्य से मुक्ति पाकर जैन, सिद्ध-नाथ, ऐहिक एवं मुक्त साहित्य का स्वरूप ग्रहण करती है। अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभू ऐसे समाज के लिए जो पंडिताई के गर्व में चूर नहीं हैं, समाज के साथ रागात्मक सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है, सामान्य भाषा में अपनी रचना रचने की वृत्ति को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। गामेल्ल या ग्रामीण भाषा को छोड़कर आगम-निगम की भाषा में गढ़िया-जड़िया बनने का उसका उत्साह नहीं है। यदि ऐसे पाखंडी को यह भाषा न रुचे तो उसे हाथ से उछालकर फेंक देने के सिवा और कोई रास्ता नहीं है -

सामण्ण भास छुडु मा विहडउ ।
छुडु आगम-जुत्ति किंपि घडउ ।

छुडु होंति सुहासिय-वयणाइँ। गामेल्ल भास परिहरणाइँ ॥
जं एवँवि रूसइ कोवि खलु। तहो हत्थुत्थल्लिउ लेउ छलु ॥ रामायण १.३

यही नहीं इस देशी भाषारूपी नदी के दोनों तट उज्ज्वल हैं। इसके आगे दुष्कर कवियों के घनीभूत शब्द भी शिलातल की भाँति रस से आप्लायित हो जाते हैं। इसमें अर्थ-छवियों की लहरें उठती रहती हैं जिसमें सैकड़ों आशाओं के समान वर्षा के बादल समर्पित होते रहते हैं। ऐसी ही सुरसरि के समान राम की कथा सुशोभित होती है, वैसे ही जैसे तुलसी का यह प्रतिमान -

कीरति भनिति भूति भलि सोई ।
सुरसरि सम सब कर हित होई ॥

स्वयंभू के शब्दों में -

देसी-भासा-उभय तडुज्जल । क वि-दुक्कर-घण-सद्द-सिलायल ।
अत्थ-वहल-कल्लोलाणिट्ठिय। आसा-सय-सम-तूह-परिट्ठिय ॥
एँह राम कहा सरि सोहंति।[4]

अपभ्रंश के वाल्मीकि स्वयंभू ने भाषा की सार्थकता को सामाजिक, सांस्कृतिक प्रयोजन से जोड़कर देखा और उनकी प्रतिबद्धता है - सामाजिक हित का महाभाव।

इसी प्रकार संदेशरासक के कवि अब्दुल रहमान भी कहते हैं कि पंडित लोग अपने अहंकार के कारण लोकभाषा की कविता नहीं सुनना चाहते और मूर्ख लोगों को केवल प्रयोजन की भाषा चाहिये। अत: जो लोग इसके बीच के हैं अर्थात् सामाजिक हैं उनके सामने मेरी कविता सर्वदा पढ़ी जायेगी -

णहु रहइ बुहह कुकुवित्त रेसु, अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसु ।
जिण मुक्ख ण पंडिय मज्झयार, तिह पुरउ पढिब्बउ सव्ववार ॥ 21॥

कलिकाल-सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र ने अपभ्रंश भाषा की इसी सामाजिक प्रतिबद्धता और लोकोन्मुखता को देखते हुए ही इसके बारे में कहा था कि सिर पर जरा-जीर्ण लुगरी और गले में बीस मणियाँ भी नहीं है तो भी गोष्ठी में मुग्धा ने (अपभ्रंश भाषारूपी नायिका) बैठे (पंडित) लोगों को उठक-बैठक करा दिया, झुमा दिया, जैसे चाहा वैसे नचा दिया -

सिरि जर-खंडी लोअडी, गलि मणियडा न बीस ।
तो वि गोट्ठडा कराविया, मुद्धए उट्ठ-बईस ॥

इस प्रकार अपभ्रंश कवियों की भाषा की प्रतिबद्धता है साधारण लोगों तक अपनी रचना को पहुँचाना। भले ही इसके लिए उन्हें व्याकरण, अलंकारशास्त्र और पिंगलशास्त्र छोड़ना पड़े। इस महान उद्देश्य में अपभ्रंश कवियों का आत्म-विश्वास देखते ही बनता है। लोक-सुख में ही अपभ्रंश कवियों का आत्म-सुख है। यही उनका समाज है, यही उनकी संस्कृति। उनका पूर्ण विश्वास था कि इसके बिना सामाजिक-सांस्कृतिक रूपान्तरण किया ही नहीं जा सकता। इसके लिए वे अपने से बाहर निकलकर वृहत्तर अनुभव-संसार में गये। समाज में गाये जानेवाले

प्रचलित लोकधुनों को काव्य का रूप दिया। संधि, कुलक, चउपई, चौपाई, आराधना, रास, चाँचर, फाग, स्तुति, स्तोत्र, कथा, चरित, पुराण आदि काव्यरूपों में सामाजिक जीवन और जगत की अनेक भावनाओं, विचार-सरणियों, चिन्तन की चिन्तामणियों, सहज साधना एवं सिद्धि-पद्धतियों, धार्मिक आदर्शों, सांस्कृतिक सरणियों को सशक्त एवं रागरंजित वाणी प्रदान की। नाना शलाका पुरुषों, तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों के चरित्रों से संस्कृति का मधुछत्र तैयार कर दिया। ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर स्वामी के त्याग एवं अहिंसामय जीवन से भारतीय काव्य जाज्वल्ययान हो उठा। लौकिक रस की धारा प्रवाहित हुई। वणिक पुत्रों तथा ऐसे ही साधारणजनों के जीवन की गाथा गाई गई। एक ऐसे समाज और संस्कृति का निर्माण हुआ जिससे परवर्ती साहित्य को जीवन्त प्राणधारा ही नहीं मिली अपितु ऐतिहासिक कड़ी की ऐसी लड़ी जुड़ी कि वह जीवन्त और प्राणवन्त बन गया।

किसी भी भाषा के साहित्य का समाजशास्त्र समग्रता अथवा 'टोटेलिटी' की अपेक्षा रखता है। इस अपेक्षा में यह चिंतना निहित है कि जीवन का कितना विस्तार अपनी सच्चाई और गहराई के साथ उमड़ा और उभड़ा है। समाज की स्थिति सर्वत्र सपाट नहीं होती। वह अनेक तंतुओं से कहीं बिखरी, कहीं जुड़ी, कहीं विश्लिष्ट, कहीं संश्लिष्ट होती है। अर्थात् सामाजिक जीवन अनेकवर्णी और बहुआयामी होता है। यही जीवन जब कवि की रचना में उतरता है तो कलात्मक पुनर्रचना का आकार लेता है। उसमें जीवन रहता है और जीवन का संस्कार भी। उसमें समाज रहता है और समाज का प्रगतिशील रूपान्तरण भी। अपभ्रंश भाषा और साहित्य इन दोनों रूपों से ओत-प्रोत है। जैन अपभ्रंश का अधिकांश भाव धर्म एवं संस्कृति की भावना से ओत-प्रोत है। पं. रामचन्द्र शुक्ल इसी प्रवृत्ति के कारण साहित्य के क्षेत्र में इसका समावेश नहीं करना चाहते थे। दूसरी ओर सिद्ध-नाथ साहित्य को योग-साधना, तंत्र-मंत्र का जाल बताते हुए इन्हें भी साहित्य से बाहर रखना चाहते थे। पर आगे के विद्वानों को यह बात श्रेयस्कर नहीं प्रतीत हुई। इस भावना का समुचित प्रतिवाद करते हुए पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मूल्यांकनपरक दृष्टिकोण के साथ कहा कि जिस अपभ्रंश साहित्य में धर्म-भावना प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य कर रही हो और साथ ही जो हमारी सामान्य मनुष्यता को आन्दोलित, मथित और प्रभावित कर रही हों। इस दृष्टि से अपभ्रंश की कई रचनाएँ जो मूलतः जैनधर्म-भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, निःसन्देह उत्तम काव्य हैं।[5] इस पर और जोर देते हुए उन्होंने कहा कि इधर जैन अपभ्रंश-चरित-काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय की मुहर लगाने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है। स्वयम्भू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त और धनपाल जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्यक्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरित मानस भी साहित्य क्षेत्र में अविवेच्य हो जायेगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य-सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा।[6] प्राचीन साहित्य का हर मर्मज्ञ विद्वान समाज-शास्त्र के इस पहलू से परिचित है कि अपभ्रंश साहित्य की गतिवर्द्धक प्रेरणा धर्म-साधना ही रही है। स्वयं शुक्लजी ने जिन चार विशेष प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है उसमें पहला स्थान धर्म का ही है; नीति, शृंगार, वीर का बाद में।[7] परन्तु इस धर्म का जो साहित्यशास्त्र बना वह लोक के साथ जुड़कर समाज के साथ घुल-मिलकर। चाहे हर्ष हो या विषाद, दुःख हो या सुख, प्रेम हो अथवा

युद्ध, ईर्ष्या हो या डाह, पारस्परिक संघर्ष हो या युद्ध सभी में लौकिक निजन्धरी (लिजेन्डरी) कहानियों का सरस सहारा लिया गया है। यह अपने देश की, अपनी खास, चिरपरिचित प्रथा रही है। पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी का तो यहाँ तक कहना है कि "कभी-कभी ये कहानियाँ पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों के साथ घुलादी जाती हैं। यह तो न जैनों की निजी विशेषता है न सूफियों की। हमारे साहित्य के इतिहास में एक गलत और बेबुनियाद बात यह चल पड़ी है कि लौकिक प्रेम-कथानकों को आश्रय करके धर्म-भावनाओं का उपदेश देने का कार्य सूफी कवियों ने आरम्भ किया था। बौद्धों, ब्राह्मणों और जैनों के अनके आचार्यों ने नैतिक और धार्मिक उपदेश देने के लिए लोक-कथानकों का आश्रय लिया था। भारतीय संतों की यह परम्परा परमहंस रामकृष्णदेव तक अविच्छिन्न भाव से चली आई है केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रन्थों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें आदिकाल से भी हाथ धोना पड़ेगा, तुलसी-रामायण से भी अलग होना पड़ेगा, कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार कर देना पड़ेगा और जायसी को भी दूर से दण्डवत् करके विदा कर देना होगा।"[8] एक प्रकार से देखा जाय तो अपभ्रंश की रचनाएँ लोक और समाज से जुड़कर अपना फलक ही विस्तृत नहीं करती, मन-चित्त और मस्तिष्क को उद्वेलित और प्रभावित भी करती हैं। धर्म की रसात्मक अनुभूति बनती है। चित्त को परिष्कृत और उदात्त बनाती हैं। समाज-संस्कृति और साहित्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध बनाती हैं।

संस्कृति का उद्देश्य सनातन काल से श्रेष्ठ की साधना और सत्य का संधान रहा है। सत्-असत्, इष्ट-अनिष्ट, श्रेय-प्रेय, शुभ-अशुभ, त्याग-भोग, ऐहिक-आध्यात्मिक आदि के बीच होनेवाले शाश्वत संघर्ष में वह श्रेयस्कर सार्थकता की खोज करता रहा है। अन्धकार से प्रकाश, अविवेक से विवेक और अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ता रहा है। दिव्य आनन्दभूमि तक पहुँचने की चेष्टा करता रहा है। मानव की इस विकासधर्मी जययात्रा का मंगलगान साहित्य के माध्यम से ही होता रहा है। पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ऐसे चिंतक और विचारक हैं जिन्होंने साहित्य समाजशास्त्र के बहुतेरे विचार-बिन्दुओं को जगह-जगह संकेतित किया है पर संकीर्णता के साथ नहीं अपितु गहन चिंतन और उदात्तता के साथ। उन्होंने साहित्य को सामाजिक वस्तु मानते हुए उसे सामाजिक मंगल का विधायक माना है। उनका स्पष्ट मत है कि "जो साहित्य हमारी वैयक्तिक क्षुद्र संकीर्णताओं से हमें ऊपर उठा ले जाय और सामान्य मनुष्यता के साथ एक कराके अनुभव करावे, वही उपादेय है। यह सत्य है कि वह व्यक्ति-विशेष की प्रतिभा से ही रचित होता है; किन्तु और भी अधिक सत्य यह है कि प्रतिभा सामाजिक प्रगति की ही उपज है। एक ही मनोराग जब व्यक्तिगत सुख-दु:ख के लिए नियोजित होता है तो छोटा हो जाता है, परन्तु जब सामाजिक मंगल के लिए नियोजित होता है तो महान हो जाता है; क्योंकि वह सामाजिक कल्याण का जनक होता है। साहित्य में यदि व्यक्ति की अपनी पृथक् सत्ता, उसकी संकीर्ण लालसा और मोह ही प्रबल हो उठें तो वह साहित्य बेकार हो जाता है। भागवत में मनोरोगों के इस सामाजिक उपयोग को उत्तम बताया गया है; क्योंकि इससे सबका मूल-निषेचन होता है, इससे मनुष्यता की जड़ की सिंचाई होती है – सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत।"[9]

अपभ्रंश का साहित्य चाहे जैन हो या सिद्ध अथवा इहलौकिक, सर्वत्र उपर्युक्त सामाजिक भावना से संचरित-सम्प्रेषित हुआ है। उसका साहित्य समाज के हित के लिए समर्पित है, उसका

त्याग समाज-सापेक्ष है। उसके साहित्य का समाजशास्त्र लोकहित की भावना से ओत-प्रोत है। अपभ्रंश के कवि-आचार्य-संग्राहक एवं पुरस्कर्ता कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र का एक दोहा इस संदर्भ में देखना समीचीन होगा – यह तो सर्वविदित ही है कि अपना जीवन किसे प्यारा नहीं होता और धन किसे इष्ट नहीं? किन्तु अवसर के आ जाने पर विशिष्ट जन दोनों को ही तृण-समान समझता है –

जीविउ कासु न वल्लहउँ, धणु पुणु कासु न इट्ठु ।
दोण्णि वि अवसर निवडिअइँ, तिण-सम गणइ विसिट्ठु ।[10]

सामाजिक हित का अवसर आने पर, मनुष्यता के संकटग्रस्त होने पर अकाल, महामारी, दु:ख-दारिद्र्य के प्रकोप पर विशिष्ट पुरुष अपनी क्षुद्र सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं और अपने जीवन को सर्वहित में न्योछावर कर देने में रंचमात्र संकोच नहीं करते। तुलसीदास ऐसी ही जीवन, कीर्तिभूति को भला मानते हैं जो सुरसरि के समान सबका हित करनेवाला होता है –

कीरति मनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सबकर हित होई ।

अपभ्रंश के कवि का समाजशास्त्र लौकिक धरातल पर सुदृढ़ है। तथाकथित जो मूल्य हैं उनकी तुलना में वे जीवन-मूल्य कहीं अधिक सार्थक हैं जो सेवा, त्याग, समर्पण में अपने सिर को नवाते हैं, उसका पालन करते हों – वह चाहे माँ हो या मातृभूमि। अपभ्रंश के व्यास जैसे महाऋषि कहते हैं कि चाहे श्रुति हो अथवा शास्त्र सभी इस बात का प्रमाण उपस्थित करते हैं कि माता के चरणों में सेवाभाव से नम्रता के साथ सिर नवाते हैं –

वासु महारिसि एँउ भणइ, जइ सुइ-सत्थु पमाणु ।
मायहँ चलण नवन्ताहं, दिवि दिवि गंगा-ण्हाणु ।।[11]

जैन अपभ्रंश साहित्य में शलाका पुरुषों के जीवनचरित की गाथा, पुराण, महापुराण, चरित, चउपई, फागु आदि काव्यरूपों में तो गाई ही गई है, कथा के माध्यम से सामान्य वणिकजनों की भी कथा कही गई है। धनपाल की 'भविष्यदत्त कथा' प्रसिद्ध ही है। इसमें भविष्यदत्त की कथा शुद्ध लौकिक आधार पर कही गई है जो अपने सौतेले भाई बंधुदत्त के द्वारा कई बार धोखा देने के बावजूद अपने अच्छे कर्मों के कारण सुखी जीवन व्यतीत करने में सफल होता है। जैसा कहा गया है कि क्षमा बड़न को चाहिये, यदि इसे अपभ्रंश की उक्ति के माध्यम से कहें तो हेमचन्द्र का यह दोहा बरबस याद आ जाता है कि 'शकुनि (पक्षीगण) महान द्रुम के सिर पर चढ़ते हैं उसके फल को भी खाते हैं, फिर चहलकदमी करते हुए उसकी शाखाओं को भी तोड़ देते हैं फिर भी महान वृक्ष (पुरुष) पक्षियों का कोई अपराध नहीं गिनते, उनका अहित नहीं चाहते –

सिरि चडिया खंति-प्फलइं, पुणु डालइँ मोडंति ।
तो वि महद्दुम सउणाहँ, अवराहिउ न करंति ।।

भविष्यदत्त और ऐसे ही अनेक महापुरुष इस चारित्रिकगरिमा से भरे पड़े हैं पर इसके लिए जो सामाजिक पृष्ठभूमि है वह असामाजिक तत्वों के घेरे को तोड़ती हुई उभड़ती है। द्वन्द्वात्मक स्थिति को तोड़ती हुई बुराई पर भलाई की जीत हासिल करती है। धनपति की दूसरी पत्नी जहाँ अपने बच्चे बंधुदत्त को सौतिया डाह के कारण बुरी शिक्षा देती है वहीं कमलश्री अपने पुत्र धनपाल

को किसी भी परिस्थिति में बुरा काम न करने की मंत्रणा देती है। इस दृश्य का एक उदाहरण जहाँ माँ कहती है - "वही शूर और पंडित है जो यौवन विकार में नहीं पड़ता, श्रृंगार रस के वश में नहीं होता, कामदेव से चंचल नहीं होता, खंडित वचन नहीं बोलता और जो पर स्त्रियों को खंडित नहीं करता, पुरुष वही है जो पुरुषत्व का पालन करता है, दूसरे का धन और दूसरे की स्त्री को ग्रहण नहीं करता। अविनाशित धर्म ही उसका धन है, पूर्वकृत शुभकर्म प्राप्त करता है। सुख से पाणिग्रहण-विहित नारी ही उसकी स्त्री होती है। जिससे अपने मन में शंका उत्पन्न हो, उस काम को मरकर भी नहीं करना चाहिए। हे पुत्र! कुछ और परमार्थ की बातें कहती हूँ, यद्यपि तुम पूर्ण महार्थ (समर्थ, समझदार) हो, तरुणि के तरल लोचनों में मन न लगाना, प्रभु का सम्मान करना, दान के गुण गाना। उस समय मुझे याद करना, (पुनः आकर) एक बार मुझे दर्शन देना। पर धन को पैर की धूलि के समान मानना, दूसरे की स्त्री को माता के समान गिनना।"

जोव्वण-वियार-रस-वस-पसरि सो सूरउ सो पंडियउ।
चल मम्मणवयणुल्लाविएहिँ, जो परतियहिँ ण खंडियउ।
पुरिसिं पुरिसिव्वउ पालिव्वउ। परधणु परकलत्तु णउ लिब्वउ।
तं धणु जं अविणासिय-धम्मेँ। लब्भइ पुव्वक्किय सुह-कम्मेँ।
तं कलत्तु परिओसिय-गत्तउ। जं सुहि पाणिग्गहणि विढत्तउ।
णिय-मणि जेण संक उप्पज्जइ। मरणंति वि ण कम्मु तं किज्जइ।
अण्णु वि भणमि पुत्र। परमत्थेँ, जइवि होहि परिपुण्ण महत्थे।
तरुणि तरल लोयण मणिं भाविउ। पहु-सम्माण-दाण गुणगाविउ।
तहिँ मि कालि अम्हहिँ सुमिरिज्जहि। एक्कवार महुदंसणु दिज्जहि।
पर-धणु पायधूलि भणिज्जहिँ। परकलत्तु मईं समउ गणिज्जहि॥[12]

महाकवि स्वयंभू का यश पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ तथा पंचमिचरिउ के कारण अपभ्रंश साहित्य में अपना शीर्ष स्थान रखता है। वे अपभ्रंश के वाल्मीकि कहे जाते हैं। स्वयंभू की ख्याति समाज, चरित्र और परिवेश के व्यापक फलक के यथार्थपरक चित्रण में है। महाकाव्य की उदात्त भूमिका से ही लग जाता है कि स्वयंभू को साहित्य के समाज शास्त्र के व्यापक पृष्ठ-भूमि का महाकवि माना जा सकता है। प्रारम्भ के आत्म-निवेदन से ही पता चल जाता है कि उनमें अडिग आत्म-विश्वास है। 'पउमचरिउ' में राम का चरित्र प्रधान है परन्तु न तो वह आदर्श चरित्र का काल्पनिक प्रतिमान खड़ा करता है और न अलौकिकता का इन्द्रजाल ही। यथार्थ मानव की अद्‌भुत सृष्टि है यह, चरित्र जहाँ बिना किसी लाग-लपेट के, दोषों पर बिना पर्दा डाले सम्पूर्ण मानवीय दुर्बलताओं और मानवीय शक्ति का अद्‌भुत प्रतिनिधि बनकर प्रकट हुआ है। जहाँ उनमें दैवी आपत्तियों-विपत्तियों को झेलने की क्षमता है, वहीं दूसरी ओर शक्तिहत लक्ष्मण के मरणासन्न शरीर पर बिलख-बिलखकर रोने की मानवीय दुर्बलता भी। लोक संपृक्ति ऐसी कि मन्दोदरी का विलाप राजतंत्रीय और सामंतीय परिवेश के साथ चित्रण में भी मानवीय करुणा उद्वेलित हो उठती है। स्वयंभू के शब्दों में - 'लंकापुरी की परमेश्वरी मंदोदरी विलाप करती हुई कहती है कि हा त्रिभुवन-जन के सिंह रावण! तुम्हारे बिना समर-तूर्य कैसे बजेगा? तुम्हारे बिना बालक्रीड़ा कैसे सुशोभित होगी ? तुम्हारे बिना नवग्रहों का एकीकरण कौन करेगा, कण्ठाभरण कौन पहनायेगा? तुम्हारे बिना विद्या की आराधना कौन करेगा? तुम्हारे बिना चन्द्रहास (तलवार) को कौन साधेगा?

कर्ण की सहस्र-छवि को कौन क्षुब्ध करेगा? तुम्हारे बिना कुबेर को मंजित कौन करेगा? त्रिजग-विभूषण शिव किसके वश में होंगे? तुम्हारे बिना यम का विनिवारण कौन करेगा ?'

रोवइ लङ्कनपुर परमेसरि। हा रावण! तिहुयण जण केसरि ।
पइ विणु समर तूरु-कहों वज्जइ। पइ विणु बालकीता कहो छज्जइ ।
पइ विणु णवगह एक्कीकरणउ। को परिहेसइ कंठाहरणउ ।
पइ विणु को विज्जा आराहइ। पइँ विणु चंदहासु को साहइ ।
को गंधव्व-वापि आडोहइ। कण्णहों छवि-सहासु सखोहइ ।
पइ विणु को कुबेरु मंजेसइ। तिजग-विहुसणु कहो वसे होसइ ।
पइ विणु को जयु विणिवारेसइ। को कइलासुद्धरणु करेसइ ।[13]

पुष्पदन्त दूसरे ऐसे कवि हैं जिनके काव्य का सामाजिक फलक विस्तृत और लोक-सापेक्ष है। उन्होंने कृष्ण के नटखटपने के साथ 'कालियादमन', 'गोवर्द्धन-धारण' जैसी पौरुषमयी लीलाओं का भी सजीव चित्रण किया है। इन्द्र के प्रलयंकारी वृष्टि और कृष्ण का ग्वाल-बालों को बचाने का अद्भुत प्रयास गोवर्द्धन धारण, साहित्यिक नादानुरंजितता के साथ - 'जल पड़ रहा है, झलझला रहा है, गुफाएँ भर रही हैं, नदियाँ बह रही हैं। बिजली तड़क रही है। पर्वत फूट रहे हैं, चोटियाँ नाच रही हैं। हवा चल रही है। तरु डोल रहे हैं। जल-थल गोकुल डूब रहे हैं। लोग भयग्रस्त काँप रहे हैं। जब-तब स्थिर हो जाते हैं। धीर-वीर कृष्ण ढाढ़स बंधाते हैं। आर्त होकर श्रीलक्ष्मी, जयलक्ष्मी, कृष्ण को पुकारते हैं। दोनों भुजा उठाकर देवताओं के घने अंधकार को दूर करने, चंचल पृथ्वी को धारण करने, उद्धार करने की स्तुति करते हैं। पृथ्वी के विवर से फणिधर निकलकर फुफकारते हुए विष छोड़ रहे हैं, तरुण हरिण चंचल हो परिभ्रमित हो रहे हैं। वनचर अपने स्थान के नष्ट हो जाने से कातर हो गये, गिरकर चिल्लाते हैं, वन्यजातियं तथा तापस परवश हो गये हैं। उनका हृदय विदीर्ण हो रहा है, वे जीर्ण दिखाई पड़ रहे हैं।

गौवों, गोप-गोपियों और गोवर्द्धन पर पड़े इस भार को देखकर गोवर्द्धनधारी ने गोवर्द्धन पर्वत को ऊँचा किया -

जलु गलइ, झलझलइ। दरि भरइ, सरि सरइ ।
तडयडइ, तडि पडइ। गिरि फुडइ, सिहि णडइ ।
यरु चलइ, तरु घुलइ। जलु थलु वि गोउलु वि ।
णिरु रसिउ, भय तसिउ। थरहरइ, किरमरइ ।
जाव ताव, थिर भाव। धीरेण वीरेण ।
सर-लच्छि-जयलच्छि-तण्हेण कहणेण ।
सुर थुइण, भुय जुइण। वित्थरिउ उद्धरिउ ।
महिहरउ, दिहियरुउ। तय जडिउँ, पायडिउँ ।
महि-विवरु फणि णियरु। फुप्फुवइ विसु मुयइ ।
परिघुलइ, चलवलइ। तरुणाइँ, हरिणाइँ ।
तट्ठाइँ णट्ठाइँ। कायरइँ, वणयरइँ ।
हिंसाल-चंडाल-चंडाइँ, कंडाइँ ।
तावसइँ, परवसइँ। दरियाइँ जरियाइँ ।
गो-वद्धण-परेण-गो-गोपि-णिभारु व जोइउ ।
गिरि गोवद्धणउ गोवद्धणेण उच्चाइयउ ॥

जोइन्दु आदि कवियों ने तो समाज को इस प्रकार छुआ है जैसे वह आज भी हमें सजग कर रहे हों, हमसे जुड़ रहे हों, हमारे लिए प्रासंगिक बन रहे हों, वर्णभेद की विषय समस्या का समाधान आज भी नहीं निकल पाया है। यह कलंक अभी तक नहीं धुला है। जोइन्दु जैसे आज भी समाज को चेतावनी दे रहे हों कि मैं गोरा हूँ, मैं साँवला हूँ, मैं विभिन्न वर्ण का हूँ, मैं तन्वांग हूँ, मैं स्थूल हूँ, हे जीव! ऐसा तो मूर्ख ही मानते हैं –

हउँ गोरउ हउँ सामलउ, हउँ जि विभिण्णउ वण्णु ।
हउँ तणु-अंगउ थूलु हउँ, एहउँ मूढउ मण्णु ॥ 80॥

इसी प्रकार के जाति-पाँति के भेद-भाव को मूर्खतापूर्ण मानते हैं। यह भी सामाजिक अभिशाप ही है। इसका भी निराकरण हुए बिना समाज गतिशील नहीं बन सकता। यह स्वर कभी पुराना नहीं पड़ा। मध्यकालीन कवियों के लिए ही प्रेरणा का स्रोत बना रहा। जोइन्दु के शब्दों में – 'मैं श्रेष्ठ ब्राह्मण हूँ, वैश्य हूँ, क्षत्रिय हूँ, शेष (शूद्र) हूँ, पुरुष, नपुंसक या स्त्री हूँ, ऐसा मूर्ख विशेष ही मानता है। तात्पर्य यह कि आत्मा में वर्णभेद या लिंगभेद नहीं माना जाना चाहिये –

हउँ वरु बंभणु वइसु हउँ, खत्तिउ हउँ सेसु ।
पुरिसु णउंसर इत्थि हउँ, मण्णइ मूढु विसेसु ॥ 81॥

प्रेम की संस्कृति का पाठ अपभ्रंश के कवियों की अद्‌भुत देन है।

कबीर का 'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोई ।
ढाई आखर प्रेम का पढ़य सो पंडित होई ॥

इसको रामसिंह ने बहुत पहले संकेतित किया था। अपभ्रंश का समाजशास्त्र इसकी व्यापकता में विश्वास करता है। इसके बिना सब व्यर्थ है – हे प्राणी बहुत पढ़ा जिससे तालू सूख गया पर तू मूढ़ ही बना रहा। उस एक ही अक्षर को पढ़ो जिससे शिवपुरी को गमन होता है। कल्याण की भावनाएँ मिलती हैं –

बहुयइं पढियइ मूढ पर, तालू सुक्कइ जेण ।
एक्कु जि अक्खरु तं पढउ सिवपुरी गम्मइ जेण ॥

सिद्ध-नाथ अपभ्रंश कवियोंका साहित्यिक समाजशास्त्र तो सीधे समाज पर कशाघात करता है। ये पूरी तरह प्रतिपक्ष के कवि हैं। इन्हें न तो ढोंग पसन्द है न कृत्रिमता। वे संकीर्णता में बँधें जीवन को सहज जीवन का रूप देना चाहते थे और इसके लिए समाज के ठेकेदारों की कितनी ही रूढ़ियों को वह तोड़-फेंकना चाहते थे। वस्तुतः ये सिद्ध पुरानी रूढ़ियों, पुराने विचारों और पाखंडों के बड़े विरोधी थे। वे आशावाद के कवि थे और समाज को सहजता की ओर ले जाना चाहते थे। नाथों में योग और संयम का बड़ा मान था। गुरु-महिमा, सतसंगति का बड़ा मान था –

गुरु उवएसे अमिअ-रसु धाव ण पीअउ जेहि ।
बहु-सत्थत्थ-मरुत्थलहिं, तिसिए मरिअउ ते हि ॥

इस प्रकार अपभ्रंश साहित्य का समाजशास्त्र बहुआयामी है। इसके अध्ययन से नये तथ्यों का उद्‌घाटन तो होगा ही साहित्य तथा संस्कृति की कई परतें खुलती हैं। गहराई में पैठकर देखने पर आँख खोल देनेवाली छवियाँ दिखाई पड़ेंगी।

---

1. भाषा और संवेदना, डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ. 1।
2. हिन्दी काव्यधारा, पं. राहुल सांकृत्यायन, पृ. 5।
3. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 16, 18।
4. हिन्दी काव्यधारा, पृ. 26।
5. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ. 11।
6. वही।
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सातवां संस्करण, पृ. 3।
8. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ. 11।
9. विचार-प्रवाह, पृ. 142।
10. सिद्धहेम प्राकृत व्याकरण, आचार्य हेमचन्द्र 4.358।
11. वही, 4.399।
12. हिन्दी काव्यधारा, पं. राहुल सांकृत्यायन, पृ. 268।
13. हिन्दी काव्यधारा, पृ. 110।

अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

अपभ्रंश कथा साहित्य के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी साहित्य की मिथकीय कथानक रूढ़ियाँ

- डॉ. (श्रीमती) पुष्पलता जैन

■

प्राकृत-अपभ्रंश कथा साहित्य की एक लम्बी परम्परा है जिसका प्रारंभ आगम काल से देखा जा सकता है। उसमें उपदेशात्मकता और आध्यात्मिकता की पृष्ठभूमि में आचार्यों ने लोकाख्यानों का भरपूर उपयोग किया है। यद्यपि वहाँ कथा-शैथिल्य और प्रवाह-शून्यता दिखाई देती है पर उपमान, रूपक और प्रतीक के माध्यम से उसकी कमी अधिक महसूस नहीं होती। यह कमी टीकायुगीन प्राकृत कथाओं से दूर होती नजर आती है। नैतिकता के धरातल पर आरूढ़ होकर ये कथाएं लोक-परम्परा की चेतना को संदर्शित करती हैं और मानवीय प्रवृत्तियों को स्पष्ट करती हुई चारित्र की प्रतिष्ठा करती हैं। उनमें जीवन के मधुरिम तत्त्व अभिव्यंजित हैं। उनकी सार्वभौमिकता, संगीतात्मकता और चारित्रिक निष्ठा प्रश्नातीत है। जनश्रुतियों और पौराणिक इतिवृत्तों की पृष्ठभूमि में उनका जो आलेखन हुआ है उसमें सांस्कृतिक तत्त्वों का पल्लवन बड़ी खूबी से हुआ है। इस दृष्टि से पउमचरिउ, तरंगवती-कथा, वसुदेवहिण्डी, समराइच्चकहा, लीलावईकहा, कुवलयमाला आदि प्राकृत कथा-ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं। इन कथा-ग्रंथों में अप्राकृतिकता, अतिप्राकृतिकता, अंधविश्वास, उपदेशात्मकता जैसे तत्त्व भरे पड़े हैं और इन्हीं तत्त्वों से सम्बद्ध कथानक रूढ़ियों की सृष्टि हुई है।

अपभ्रंश काल में कथाओं का फलक और विस्तृत हो गया। उनमें लोक जीवन के तत्त्व और अधिक घुल-मिल गये। काल्पनिक कथाओं के माध्यम से जीवन के हर बिन्दु को वहाँ गति और प्रगति मिली। पारिवारिक संघर्ष, वैयक्तिक संघर्ष, प्रेमाभिव्यंजना, समुद्र-यात्रा, भविष्यवाणी, प्रिय-मिलाप, स्वप्न, सर्पदंश, कर्मफल, अपहरण जैसे सांसारिक तत्त्वों की सुन्दर अभिव्यक्ति

इन कथाओं में हुई है। इस दृष्टि से भविसयत्तकहा, विलासवईकहा, सिरिपालकहा, जिणयत्तकहा, महापुराण, णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ, करकण्डचरिउ, धम्मपरिक्खा आदि कथा-काव्य स्मरणीय हैं।

प्राकृत और अपभ्रंश का यह समूचा कथा साहित्य लोकाख्यानात्मक है जो आज हिन्दी साहित्य में मिथक बन गया है। हिन्दी में मिथक (Myth) शब्द के प्रथम प्रयोग का श्रेय डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी को जाता है और साहित्यिक संदर्भ में उसकी उपयोगिता, महत्ता तथा उपयुक्तता की प्रतिष्ठा में डॉ. रमेश कुन्तल मेघ का योगदान उल्लेखनीय है।

वस्तुतः मिथक का संबंध पुराख्यान, पुराण, पुरावृत्त, दन्तकथा, निजंधरी, धर्मकथा आदि जैसे समान भाव व्यंजक तत्त्वों से प्रस्थापित किया जा सकता है। आनुषंगिकरूप से भले ही इन आख्यानों में ऐतिहासिकता का प्रवेश हो जाये पर तथ्यतः उनका संबंध इतिहास की परिधि से बाहर रहता है। आस्था और अनुभूति उससे अवश्य जुड़ी रहती है पर रहस्यात्मकता के साथ ही व्यंग्यात्मकता, कौतुहल, नैतिकता, लोकतत्त्वात्मकता, प्रतीकात्मकता, सामाजिकता जैसे तत्त्व भी उसके अंतर में प्रच्छन्न रहते हैं। इन तत्त्वों की पूर्ति के लिए लोकप्रिय कथानक गढ़ा जाता है जिसे मनोरंजक बनाने के लिए विविध तत्त्वों का उपयोग/प्रयोग किया जाता है। ये ही तत्त्व कालान्तर में कथानक रूढ़ियों के रूप में प्रसिद्ध हो जाते हैं।

कथानक रूढ़ि को अंग्रेजी में 'फिक्सन मोटिव' कहा जाता है। इस शब्द का सबसे पहला प्रयोग विलियम जे. थामस ने सन् 1846 में किया था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस शब्द की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है – "हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे 'अभिप्राय' बहुत दीर्घकाल से व्यवहृत होते आये हैं जो बहुत दूर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चलकर कथानक रूढ़ि में बदल जाते हैं"।[1] इससे स्पष्ट है कि कथानक रूढ़ियों की अवधारणा के पीछे कथानक को मनोरंजक और गतिशील बनाने का उद्देश्य छिपा हुआ है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लोकाख्यान, लोक-विश्वास और लोक-रीतियों का समुचित उपयोग किया जाता रहा है। यह आवश्यक नहीं है कि लोकाख्यानों में यथार्थता और वैज्ञानिकता रहे, पर इतना अवश्य है कि उनके गर्भ में संभावना और मनोवैज्ञानिकता अवश्य भरी रहती है। चामत्कारिकता, असंभवनीयता, अतिमानवीयता और तथ्यात्मकता जैसे तत्त्वों का आधार लेकर कथानक को रुचिकर बना लिया जाता है और सामुद्रिक यात्रा, अपहरण, काष्ठफलक द्वारा प्राण- रक्षा, नायक-नायिका का विवाह या मिलन जैसी निजंधरी घटनाओं को अन्तर्भूत कर स्वप्न, शकुन आदि से सम्बद्ध विश्वासों के माध्यम से आध्यात्मिकता का संनिवेश किया जाता है। इसी संनिवेश में जीवन की मनोरम व्याख्या कर दी जाती है।

ये रूढ़ियां काव्यात्मक, कलात्मक और कथानक-रूप हुआ करती हैं। काव्यात्मक रूढ़ियों को 'कवि समय' कहा जाता है जिनका उपयोग कविगण अपने अभिजात साहित्य में करते आये हैं। कलात्मक रूढ़ियों का प्रयोग संगीत, मूर्ति और चित्रकला के क्षेत्र में होता आया है। इसी तरह कथानक रूढ़ियों में लोकाख्यानगत अन्य ऐसे कल्पित तत्त्व आते हैं जिनका उपयोग तत्कालीन संस्कृति को दिग्दर्शित कराने में किया जाता है। इनमें से कलात्मक रूढ़ियों को छोड़कर शेष दोनों प्रकार की (काव्यात्मक और कलात्मक) रूढ़ियों की यात्रा प्राकृत कथा

साहित्य से प्रारंभ होती है और संस्कृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी जैसी आधुनिक भाषाओं के साहित्य में उनके विभिन्न आयाम दिखाई देने लगते हैं। यहाँ हम उन्हीं आयामों की ओर संकेत करना चाहेंगे।

काव्यात्मक रूढ़ियाँ

काव्यात्मक रूढ़ियां मूलत: अशास्त्रीय और अलौकिक होती हैं पर कविगण देश-काल के अंतर का ध्यान न रखकर भी परम्परावश उनका वर्णन करते हैं – ''अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातंयमर्थमुपनिबध्नन्ति कवय; देशकालांतरवशेन अन्यथात्वेऽपि, स कवि-समय:।''[2] भामह, दण्डी तथा वामन अशास्त्रीय और अलौकिक वर्णन को काव्यदोष के अन्तर्गत मानते हैं पर राजशेखर उन्हें 'कवि समय' की सीमा के भीतर रखकर स्वीकृत कर लेते हैं।

राजशेखर के समय तक प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश काव्य साहित्य स्थिर हो चुका था। इस समूचे साहित्य के आधार पर कुछ ऐसी काव्य-रूढ़ियों का निर्माण हुआ जिनका संबंध लोकाख्यान या लोकाचार या अंधविश्वास से रहा। ये सभी तत्त्व कथानक रूढ़ियों में भी प्रतिबिम्बित हुए हैं। राजशेखर ने ऐसे ही तत्त्वों को कवि-समय के रूप में विस्तार से पर्यालोचित किया है। इन काव्यात्मक रूढ़ियों का प्रयोग सभी कवियों ने अपने-अपने कथानकों के विकास में किया है परन्तु हम विस्तार-भय से उनका विवेचन यहाँ नहीं कर रहे हैं।

कथानक रूढ़ियाँ

कथानक संस्कृति-सापेक्ष होते हैं इसलिए कथानक रूढ़ियों का फलक बहुत विस्तृत हो जाता है। प्राकृत-अपभ्रंश कथा साहित्य में ये कथानक रूढ़ियाँ इस प्रकार उपलब्ध होती हैं – प्राकृत कथा साहित्य की पृष्ठभूमि में हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य के आधार पर डॉ. नेमिचंद्र शास्त्री ने विषय की दृष्टि से कथानक रूढ़ियों को दो भागों में विभाजित किया है – (1) घटना-प्रधान, (2) विचार या विश्वास-प्रधान।

(1) घटना प्रधान – घोड़े का आखेट के समय निर्जन वन में पहुँच जाना, मार्ग भूलना, समुद्र-यात्रा करते समय यान का भंग हो जाना और काष्ठ-फलक के सहारे नायक-नायिका की प्राण-रक्षा जैसी रूढ़ियाँ इस कोटि के अन्तर्गत हैं।

(2) विचार या विश्वास प्रधान – स्वप्न में किसी पुरुष या किसी स्त्री को देखकर उस पर मोहित होना अथवा अभिशाप, यंत्र-मंत्र, जादू-टोना के बल से रूप-परिवर्तन करना आदि विचार या विश्वास-प्रधान रूढ़ियों के अन्तर्गत आते हैं।

डॉ. शास्त्री ने इन दोनों प्रकार की कथानक रूढ़ियों को दस भागों में विभाजित किया है और फिर उनके भेद-प्रभेदों को विस्तार से स्पष्ट किया है। ये दस भेद इस प्रकार हैं –

1. लोक-प्रचलित विश्वासों से सम्बद्ध कथानक रूढ़ियाँ।
2. व्यंतर, पिशाच, विद्याधर अथवा अन्य अमानवीय शक्तियों से सम्बद्ध रूढ़ियाँ।
3. देवी, देवता एवं अन्य अतिमानवीय प्राणियों से सम्बद्ध रूढ़ियाँ।
4. पशु-पक्षियों से सम्बद्ध रूढ़ियाँ।
5. तंत्र-मंत्रों और औषधियों से सम्बद्ध रूढ़ियाँ।

6. ऐसी लौकिक कथानक रूढ़ियां जिनका संबंध यौन या प्रेम व्यापार से है।
7. कवि-कल्पित कथानक रूढ़ियाँ।
8. शरीर वैज्ञानिक अभिप्राय।
9. सामाजिक परम्परा, रीति-रिवाज और परिस्थितियों की द्योतक रूढ़ियाँ।
10. आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक रूढ़ियाँ।[3]

ये सारी कथानक रूढ़ियाँ अपभ्रंश कथा साहित्य में कुछ और विकसित होकर उभरी हैं जिन्हें निम्न रूप में विभाजित किया जा सकता है -

1. आध्यात्मिक और धार्मिक कथानक रूढ़ियाँ।
2. सामाजिक कथानक रूढ़ियाँ और
3. प्रबंध संघटनात्मक रूढ़ियाँ।

1. आध्यात्मिक और धार्मिक कथानक रूढ़ियाँ

आगम युगीन प्राकृत कथा साहित्य मूलत: उपदेशात्मक और आध्यात्मिक है। उसमें रूपकों और प्रतीकों के माध्यम से जीवन-सत्य को पहचानने का भरपूर प्रयत्न किया गया है। ये कथाएं आकार में छोटी होने पर भी हृदय पर अमिट प्रभाव छोड़ती हैं। टीका युग तक आते-आते इनमें कथानक रूढ़ियों का ढाँचा बनने लगता है और नीतिपरकता की पृष्ठभूमि में लोकाख्यानों पर धार्मिकता का आवरण चढ़ा दिया जाता है, इस दृष्टि से चूर्णी-साहित्य विशेष द्रष्टव्य है। आगे चलकर तरंगवती, वसुदेवहिण्डी काव्यकथा ग्रंथों में नायकों की चरित्रसृष्टि के संदर्भ में साहस, प्रेम, चमत्कारिता, छल-कपट, पशु-पक्षियों की विशेषताएं, कौतुहल आदि जैसी कथानक रूढ़ियों का उपयोग कर कथाओं को मनोरंजक बनाया जाने लगा और अपभ्रंश तक आते-आते उनमें आध्यात्मिकता का समावेश और अधिक हो गया।

इस कथानक रूढ़ि के अन्तर्गत गुरु-प्राप्ति, निर्वेद का कारण, जाति-स्मरण, पूर्वभव, पुनर्जन्म-श्रृंखला, तप, उपसर्ग, केवलज्ञान प्राप्त होने पर आश्चर्यदर्शन जैसी कथानक रूढ़ियों का परिगणन किया जाता है।

दशवैकालिक की हरिभद्र वृत्ति तथा अन्य प्राकृत-अपभ्रंश ग्रंथों में व्यंतर द्वारा प्रसाद-निर्माण, व्यंतरी द्वारा 'धरण' के प्राण-हरण का प्रयत्न, व्यंतर के प्रभाव से हार को निगलना और उगलना, विद्याधरों द्वारा विपन्न लोगों की सहायता, दुष्कर कार्य करने के लिए अलौकिक दिव्य-शक्ति द्वारा चमत्कार-प्रदर्शन, तीर्थंकरों की महत्ता प्रकट करने के लिए लौकांतिक देवों के विविध कार्यों का उल्लेख आदि ऐसी कथानक रूढ़ियां हैं जिनका उपयोग नायक-नायिका के चारित्रिक उत्कर्ष, कथानक में गति एवं मोड़ तथा कर्मफल की अनिवार्यता के प्रदर्शन के लिए किया गया है।

भक्ति साधना का अटूट तत्त्व है। मानव तो अपने इष्टदेव की भक्ति करके फलाकांक्षी होते ही हैं पर पशु-पक्षी भी अपनी भक्ति और शुभ परिणामों से उत्तम फल प्राप्त करना चाहते हैं। मेंढक कमल की पाखुंडी लेकर महावीर की पूजा करने जाता है तो वानर शिवजी की भक्ति करता दिखाई देता है। तोता जिन-पूजा के फल से राजकुमार के रूप में जन्म धारण करता है।

इसी प्रकार विद्या और मंत्र-सिद्धि से समुद्र पार करना, कुष्ठ रोग से मुक्ति पाना, चन्द्रेश्वरी, रोहिणी, पद्मावती, ज्वाला-मालिनी, क्षेत्रपाल, अम्बिका आदि यक्ष-यक्षणियों की स्थापना, सरस्वती की आराधना आदि तत्त्व भी धार्मिक विश्वास के परिणाम हैं।

अलौकिक शक्तियों का समावेश अपभ्रंश कथा-काव्यों का प्रमुख आकर्षण रहा है। हाथी का रूप धारणकर मदनावली का अपहरण, अतिमानव द्वारा सुदर्शन की रक्षा, यक्ष की सहायता से भविष्यदत्त द्वारा अपनी पत्नी की प्राप्ति आदि घटनाएँ हमारे कथन को प्रमाणित करती हैं। हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों में भी इसी तरह की अलौकिक शक्तियों का उल्लेख थोड़े अंतर से हुआ है। वहाँ नायक कभी-कभी नायिका से भिन्न किसी युवती की राक्षस, दानव आदि से रक्षा करते हैं। मृगावती में राजकुंवर रुक्मिन की रक्षा एक राक्षस से करता है और फिर उससे विवाह भी करता है। इस तरह और भी अनेक उल्लेख मध्यकालीन हिन्दी के प्रबंध काव्यों में मिलते हैं।

2. सामाजिक कथानक रूढ़ियाँ

समाज व्यक्तियों का समुदाय है और समुदाय विविधता का प्रतीक है इसलिए समाज में घटना और विचार-जन्य अनगिनत रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है जिनका संबंध, देश, काल, क्षेत्र और भाव से रहा है। इसके अन्तर्गत लोक-प्रचलित विश्वास, तंत्र-मंत्र, औषधियों, पशु-पक्षियों और सामाजिक परम्पराओं से सम्बद्ध कथानक रूढ़ियों पर विचार किया जा सकता है। समराइच्चकहा, भविसयत्तकहा आदि कथा ग्रंथों में ये रूढ़ियाँ उपलब्ध हैं।

हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानों में अपभ्रंश की साधना-पद्धति का विकास हुआ। मृगावती का राजकुंवर, पद्मावत का रत्नसेन, मधुमालती का मनोहर, चित्रावली का सुजान तथा ज्ञानद्वीप का ज्ञानदीप, ये सभी नायक मूलतः साधक हैं, प्रेमपथिक हैं जो 'स्व' को मिटाकर अपने में समाहित होने के प्रयत्न में लगे हैं। पद्मावत की नायिका-नायक क्रमशः ब्रह्म और जीव के रूप में चित्रित हैं। साधनों की सात सीढ़ियों पर आरूढ़ होने के लिए, राजकुँवर मृगावती की खोज के लिए और रत्नसेन पद्मावती पाने के लिए योगी बनकर निकल पड़ते हैं।

अध्यात्म और धर्म से संबंध है आत्मा, परमात्मा, कर्मफल, पुनर्जन्म, गुरुप्राप्ति, अमानवीय शक्तियों की उपलब्धि, देवी-देवताओं की अतिमानवीयता जैसे अनेक तत्त्वों का। इनसे सम्बद्ध कथानक रूढ़ियों का प्रयोग प्राकृत-अपभ्रंश के कथा काव्यों तथा हिन्दी के सूफी-असूफी काव्यों में बहुतायत से हुआ है।

कर्मफल और पुनर्जन्म – कर्मफल और पुनर्जन्म की मान्यता अपभ्रंश काव्यों की रीढ़ है। संस्कारों को विशुद्ध बनाने के लिए कथाओं के माध्यम से वहाँ अनेक आध्यात्मिक साधनों का उपयोग बताया है। भविसयत्तकहा, विलासवईकहा, जिणयत्तकहा, सिद्धचक्ककहा आदि कथा-काव्यों में शुभाशुभ कर्म, कर्मार्जन के कारण, कर्मबंध की व्यवस्था आदि का सुंदर निरूपण हुआ है। श्रीपाल-कथा में पिता से जेठी पुत्री और कर्मफल दोनों अभिप्राय एकसाथ प्रयुक्त हुए हैं। समुद्रदत्त जिनदत्त के साथ विश्वासघात करने से कुष्ठरोग को आमंत्रित करता है और अल्पायु में ही प्राण त्याग देता है। पूर्वजन्म में हंस-हंसी को वियुक्तकर सनतकुमार इस जन्म में विलासवती का वियोग सहन करता है। पूर्वजन्म के कर्म-विपाक से श्रीपाल को कुष्ठरोग होता है। पूर्वजन्म के संस्कारवश सनतकुमार और विलासवती में प्रेम होता है और पूर्वजन्म के पुण्य फल से

भविष्यदत्त की रक्षा उसके मित्र करते हैं। इसी तरह कर्म का माहात्म्य और भी अन्य घटनाओं से सिद्ध किया गया है।

इस्लाम में पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं किया गया इसलिए सूफी कवि कर्मफल और पुनर्जन्म का प्रसंग अपने काव्यों में नहीं ला पाये, इतना अवश्य है कि वहाँ नायक आत्मा का प्रतीक है और अपनी आध्यात्मिक यात्रा में एक गुरु का चयन करता है। गुरु और परमेश्वर उसके लिए पर्याय मात्र है। हीरामन इसी अर्थ में रत्नसेन और पद्मावती का गुरु है। केवल मंझनकृत 'मधुमालती' में कवि जन्म-जन्मांतर तक प्रेम निभाने की बात अवश्य करता है।

अमानवीय शक्तियों की उपलब्धि – भारतीय दर्शनों के अनुसार आत्मा में अपरिमित शक्ति मानी गयी है जिसका प्रस्फुटन पवित्र साधना द्वारा संभव है। इसी साधना से विद्यासिद्धि और अमानवीय शक्ति की उपलब्धि जुड़ी हुई है। कहा जाता है व्यंतर, भूत-प्रेत, विद्याधर आदि देवों में अमानवीय शक्ति होती है जिसका उपयोग वे मानवों की सुरक्षा और विनाश में किया करते हैं।

लोक-प्रचलित विश्वासों से सम्बद्ध कथानक रूढ़ियाँ

लोक-प्रचलित विश्वासों के पीछे वैज्ञानिकता कम और अंधविश्वास अधिक होता है। कवि इनके सहारे कथानक का विकास करता है। स्वप्न, शकुन-अपशकुन, भविष्यवाणी, दोहद, विवाह, जन्म-संस्कार आदि जैसे विश्वासों एवं उत्सवों को इस परिधि में रखा जा सकता है। प्राकृत और हिन्दी साहित्य में इन विश्वासों का आधार लेकर कथानक को गति दी गयी है।

स्वप्न और शकुन – स्वप्न भावी घटनाओं का सूचक माना जाता है। त्रेषठ शलाका पुरुषों की तथा अन्य महापुरुषों की मातायें स्वप्न देखती हैं और अपने पतियों तथा ज्योतिषियों से उनका फल जानती है। सिंह, हाथी और पशु-पक्षियों का स्वप्न में दर्शन होना और फिर प्रतीक के रूप में उनकी व्याख्या करना एक आम बात थी। श्रीदेवी, लीलावती आदि नायिकायें इस संदर्भ में उदाहरणीय हैं। शुभ-अशुभ स्वप्नों पर भी यहाँ विचार हुआ है। दक्षिण नेत्र का स्फुरण शुभ शकुन और वाम नेत्र का स्फुरण अशुभ माना जाता है। अशुभ घड़ी में भविष्यवाणी या आकाशवाणी द्वारा नायक का उलझाव दूर होता है। भविष्यदत्तकथा में सुभद्रा के शील की परीक्षा के समय चम्पानगरी के देव ने नगर-द्वार को खोलने के लिए आकाशवाणी का उपयोग किया।

स्वप्न-दर्शन एवं उसका रहस्य-उद्घाटन तथा स्वप्न में देवता अथवा किसी वृद्ध पुरुष का दर्शन देना, इस प्रकार की स्वप्न विषयक कथानक रूढ़ि का प्रयोग सूफी साहित्य में हुआ है। ज्ञानदीप में नायक सूफी काव्य में स्वप्न में कवि को एक तपस्वी दर्शन देता है और उसी की अंतःप्रेरणा से काव्य-रचना होती है।

विवाह और प्रेम-संदेश – चित्र देखकर मोहित हो जाना भारतीय आख्यान साहित्य की एक सशक्त रूढ़ि है। पुष्पदंत के णायकुमारचरिउ में चित्रदर्शन से प्रेम की उत्पत्ति का उल्लेख है। लीलावईकहा के अनुसार लीलावती का चित्र देखकर सिंघल का राजा शीलामेघ मोहित हो गया। इसी तरह ज्योतिषियों की भविष्यवाणी के अनुसार भी विवाह-सम्बन्ध की बात कही गयी है। उदाहरणार्थ जो सहस्रकूट चैत्यालय के फाटक को खोल देगा वही कन्या का पति होगा अथवा जो समुद्र पार करता हुआ द्वीप के तट पर आयेगा या मदोन्मत्त हाथी को वश में करेगा वही कन्या का पति होगा (भविसयत्तकहा)। इस प्रकार की विवाह संबंधी कथानक रूढ़ियाँ अपभ्रंश कथा

साहित्य से हिन्दी साहित्य तक पहुँची। चित्रावली और पुहुपावती में नायक चित्र-दर्शन के माध्यम से ही नायिका से प्रेम करता है। पद्मावत में रत्नसेन तोते से रूप-गुण-श्रवण करके पद्मावती के प्रेम से दग्ध हो उठता है। कासिम शाह ने हंस जवाहिर में प्रेम का आविर्भाव स्वप्न-दर्शन तत्पश्चात् गुणश्रवण के आधार पर कराया है। अपभ्रंश कथाकाव्यों के समान हिन्दी प्रेम गाथाओं में भी साक्षात् दर्शन द्वारा भी प्रेम जागृति का वर्णन मृगावती, मधुमालती, ज्ञानदीप आदि में मिलता है।

संदेश पहुँचाने के लिए अपभ्रंश काव्यों में शुक और काग का प्रयोग हुआ है। भविसयत्तकहा में कमलश्री अपने पुत्र भविष्यदत्त को द्वीपांतर से बुलाने के लिए काक द्वारा संदेश भेजता है। यही कथानक रूढ़ि हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्य में मिलती है। पद्मावत का हीरामन तोता संदेशवाहक का काम करता है और (नूरमुहम्मद कृत) इन्द्रावती की कथा में भी राजकुँवर और रतनजोत इन्द्रावती के बीच संदेश भेजने का काम शुक ने ही किया है।

सामाजिक प्रथाएं – सामाजिक प्रथाओं से सम्बद्ध कथानक रूढ़ियों में दोहद, गंधर्व विवाह, जन्म-संस्कार, देवोपासना से संतान की प्राप्ति, मंदिर में विवाह आदि रूढ़ियां विशेष उल्लेखनीय हैं। भारतीय लोकाख्यान में सर्प-पूजा भी एक प्रथा जैसी बन गयी इसलिए अपभ्रंश की विलासवई कहा में नायक सनत्कुमार को देखकर पैरों से कूँचे जाने पर भी अजगर कुंडली सिकोड़कर कर्त्तव्यबुद्धि का परिचय देता है। इसी तरह दोहदपूर्ति गर्भिणी की इच्छापूर्ति का उपक्रम है। वृक्ष दोहद तथा तिथि दोहद इन तीनों प्रकारों से सम्बद्ध सामग्री अपभ्रंश और हिन्दी के कथा-काव्यों में मिलती है। वैसे यह रूढ़ि संस्कृत साहित्य से चली आ रही है। तिथि दोहद के उदाहरण माधवानल कामकंदला, रसरतन आदि प्रेमकाव्यों में बहुत मिलते हैं। समाज में कहीं-कहीं मानव-बलि देने की प्रथा थी। मनोरथदत्त (समराइच्चकहा) को बलि देने के लिए राजाओं के अनुचरों ने पकड़ा था।

3. प्रबंध संघटनात्मक रूढ़ियाँ

प्रबंध काव्यगत रूढ़ियों के संदर्भ में परम्परागत तत्त्वों पर भी विचार किया जा सकता है जिनका परिपालन संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मध्ययुगीन हिन्दी काव्यों में हुआ है। इन तत्त्वों में विशेष उल्लेखनीय हैं – मंगलाचरण, विनयप्रदर्शन, काव्यप्रयोजन, सज्जन-दुर्जन-वर्णन, इष्टदेव-स्तुति, श्रोता-वक्ता शैली, नगर, द्वीप, हाट-सरोवर, जल-क्रीड़ा, समुद्र-यात्रा, चित्रशाला, ऋतु, वन, प्रकृति, बारहमासा, नख-शिख वर्णन, युद्ध आदि। इन तत्त्वों का काव्यात्मक वर्णन हर कवि के लिए आवश्यक हो गया था। उसी से उस कवि की पहिचान हो पाती थी। प्राकृत-अपभ्रंश कथा-काव्यों के आधार पर ही मृगावती, पद्मावत, मधुमालती, चित्रावली, इन्द्रावती, पुहुपावती आदि हिन्दी प्रेमाख्यानकों में तथा रामचरितमानस, रामचन्द्रिका आदि अन्य काव्यों में इन कथा रूढ़ियों का आकर्षक प्रयोग हुआ है। इसी तरह बारहमासा, दोहा-छन्द निधान, तुकांत रचना को भी हिन्दी साहित्य के लिए अपभ्रंश साहित्य की देन के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। इन सारे तत्त्वों पर प्रस्तुत निबंध में विचार करना संभव नहीं है केवल नमूने के तौर पर एक-दो तत्त्वों पर ही प्रकाश डालेंगे।

इन तत्त्वों में से कवियों को यात्रा-वर्णन विशेष रुचिकर लगा। इसके पीछे कदाचित् उनका उद्देश्य अतिशयोक्ति-गर्भित प्रेमाभिव्यंजना तथा पराक्रम की पराकाष्ठा दिखाना रहा है।

विमानयात्रा, समुद्रयात्रा और रथयात्रा का सुंदर चित्रण लगभग हर काव्य में किसी-न-किसी रूप में मिल जाता है। पाँच सौ व्यापारियों के संघ की यात्रा का उल्लेख एक ऐसी कथानक रूढ़ि बन गयी थी जिसका प्रयोग अपभ्रंश कवियों ने बहुत किया है। इतिहास की दृष्टि से इसे 'श्रेणी' कहा जाता रहा है। जातक कथाओं में भी श्रेणियों का विशेष उल्लेख हुआ है। इसी तरह समुद्र-यात्रा का भी प्रसंग आता है। भविष्यदत्त पाँच सौ वणिकों के साथ यात्रा करता है और उनका साथ छूट जाने पर मैनाग द्वीप की उजाड़ नगरी में पहुँच जाता है जहाँ उसका विवाह एक सुन्दरी से हो जाता है। प्राकृत-अपभ्रंश में ऐसी अनेक कथाएं मिलती हैं जिनमें समुद्र-यात्रा का वर्णन है और उस यात्रा में जलयान के ध्वंस हो जाने की कल्पना है।

हिन्दी सूफी काव्यों में भी यह कथानक रूढ़ि बड़ी लोकप्रिय रही है। समुद्र में यात्रा करते समय नायक वहाँ तूफान में फँस जाते हैं, किसी प्रकार नायक की प्राण-रक्षा होती है। पद्मावती के साथ घर आते समय तूफान में रत्नसेन की नौका क्षत-विक्षत हो जाती है और दोनों प्रवाह में बहकर विभिन्न दिशाओं में पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार मधुमालती का नायक मनोहर और चित्रावली का नायक सुजान भी समुद्री भँवरों के थपेड़े खाते रहते हैं।

इसी प्रकार सिंहल द्वीप की यात्रा भी एक मनोरंजक कथानक रूढ़ि बन गयी थी। (कुतुहल की) लीलावईकहा की रत्नावली और लीलावती दोनों सिंहल कुमारियाँ थीं जिनका विवाह सातवाहन राजा से हुआ। भविष्यदत्त, जिनदत्त, करकण्डु ने भी इसी तरह समुद्र-यात्रा की, सिंहल द्वीप पहुँचे और सिंहल कन्याओं से विवाह-संबंध किया। जायसी के पद्मावत में भी इस कथानक रूढ़ि का पालन हुआ है वहाँ राजा रत्नसेन सिंहल देश के राजा, गंधर्वसेन की पुत्री पद्मावती के वरण करने के लिए सात समुद्र पार करके पहुँचता है। कवि हुसेन अली-कृत पुहुपावती में सिंहल को पद्मिनी स्त्रियों का उत्पत्ति स्थान माना गया है। सिंहल द्वीप कौन है और कहाँ है ? यह प्रश्न भले ही विवादास्पद हो, पर उसे कथानक रूढ़ि के रूप में स्वीकार किये जाने में कोई विवाद नहीं है।

इस प्रकार प्राकृत कथा साहित्य से इन कथानक रूढ़ियों की यात्रा प्रारंभ होती है और साधारण तौर पर हिन्दी के मध्यकाल में उनका अवसान-सा हो जाता है। इन कथा रूढ़ियों की उत्पत्ति की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक और सांस्कृतिक कारण रहे हैं। विदेशी आक्रमण और सामन्तवादी व्यवस्था जैसे कतिपय कारण जैसे-जैसे परिवर्तित होते गये, कथानक रूढ़ियों में अन्तर आता गया। इतिहास और भूगोल जहाँ हमें विभिन्न संस्कृतियों के उदय और विकास की कहानी बताते हैं वहीं ये कथानक रूढ़ियाँ लोकगत सामान्य विश्वासों का विश्लेषणकर देश-विशेष की संस्कृति और सभ्यता का प्राचीन पौराणिक रूप निर्धारित करती हैं।

आधुनिक युग में इन कथानक रूढ़ियों ने अपना मार्ग बदल दिया है। १५वीं-१६वीं शती में यूरोप में विज्ञान का उन्मेष हुआ जिससे परम्परागत जीवन-मूल्य लड़खड़ाने-से लगे, चिन्तन की स्वतंत्रता आयी, निरीक्षण-परीक्षण की विधि का अनुभूतिजन्य विकास हुआ और सार्वदेशिकता का तत्त्व जागृत हुआ। विवेक और इतिहास-बोध की धारणा ने आधुनिकता को जन्म दिया और पुरानी अवैज्ञानिक परम्पराओं पर प्रश्नचिह्न खड़ा कर दिया। साहित्य भी इससे अप्रभावित नहीं रह सका इसलिए आधुनिक हिन्दी साहित्य में मिथकीय कथानक रूढ़ियों का

प्रयोग अदृश्य हो गया। वैज्ञानिक सभ्यता की चकाचौंध ने लोगों के दृष्टिकोण को अध्यात्मपरक से बदलकर भौतिकतावादी बना दिया इसीलिए पौराणिक इतिवृत्तों की आधुनिक संदर्भ में व्याख्या का जन्म हुआ। यह एक स्वतंत्र चिंतन का विषय है।

अपभ्रंश के पौराणिक काल में जहाँ महापुरुषों के चरित्रकाव्यों के माध्यम से श्रावकों में धार्मिक एवं आध्यात्मिक रुचि जागृत की जाती थी वहाँ आधुनिक हिन्दी साहित्य में इन्हीं पुरावृत्तों द्वारा युगीन समस्याओं को उठाकर आधुनिक युग-बोध दिया जाता है। वैज्ञानिक सभ्यता के थपेड़ों में धराशायी जीवन-मूल्यों के ह्रास को रोकने का प्रयास आज के काव्य-नाटकों में जारी है। उर्वशी, कनुप्रिया आत्मजयी, संशय की एक रात, महाप्रस्थान, अन्धायुग, एक कंठ विषपायी आदि काव्य नाटक तथा प्रियप्रवास, साकेत, कुरुक्षेत्र, एकलव्य आदि काव्य इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय हैं। निश्चित ही दोनों दृष्टियों में कोई विशेष अंतर नहीं है। अंतर है केवल विस्तृत दृष्टि फलक का जो आज बहुआयामी होकर भी उस अंतिम केन्द्रीय सत्य पर अटल नहीं हो रहा है जिससे धर्म, अध्यात्म एवं संस्कृति को सुरक्षित रखा जा सकता है।

---

1. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 74।
2. काव्यमीमांसा, राजशेखर, 14वाँ अध्याय, पृ. 198।
3. हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ. 262-286।

रीडर एवं विभागाध्यक्ष
हिन्दी विभाग
एस. एफ. एस. कॉलेज
सदर, नागपुर

दिणिंदु हुउ तेयमंदु

एत्तहिँ दिणिंदु हुउ तेयमंदु ।
णं अत्थवंतु सोवयविचित्तु ।
णिड्डहणहेउ हुयवहहों तेउ ।
माणिणि वि ताउ तो वहहिँ राउ ।
णं दिण्णु झत्ति जाणिवि भवित्ति ।
णहतरुवरासु फलु णाइँ तासु ।
कालेण खुडिउ अइपक्कु पडिउ ।
जणजणियराउ कंदप्पराउ ।
णहसिरितियाहे ण्हावंतियाहें ।
रविकणयकुंभु ल्हसियउ सुसुंभु ।

घत्ता - पहराहउ आरत्तउ संतावजुओ रवि सायरे जाम णिमज्जइ ।
पेच्छहों कम्महों तणिय गइ सो उद्धवइ णिसिरक्खिए ताम गिलिज्जइ ।

– सुदंसणचरिउ, 5.7

– इतने में ही दिनेन्द्र (सूर्य) मंद-तेज हो गया व अस्त होते हुए ऐसा विचित्र दिखाई दिया जैसे अर्थवान् (धनी) शोक-चिन्ताओं से विचित्त (उदास) हो जाता है। (उस समय मानो डूबते सूर्य से) निर्दहन हेतुक (जलानेवाली) अग्नि में तेज आ गया; तथा मानिनी स्त्रियों ने भी राग धारण किया। मानों (डूबते सूर्य ने) भवितव्यता को जानकर नभरूपी तरुवर का फल झटपट दे डाला हो, जो यथाकाल अतिपक्व होकर टूट गया और गिर पड़ा एवं कामराग के रूप लोगों में अनुराग उत्पन्न करने लगा। अथवा मानों नभश्रीरूपी स्त्री के स्नान करते समय उसका रविरूपी सुन्दर कनक-कुंभ खिसक पड़ा हो। फिर प्रहररूपी प्रहारों से आहत और आरक्त (लाल व लोहूलुहान) हुआ वह संतापयुक्त रवि सागर में निमग्न हो गया। (देखिये तो इस कर्म की गति को) उस उर्ध्वलोक के पति को भी निशा-राक्षसी ने निगल लिया।

अनु. – **डॉ. हीरालाल जैन**

अपभ्रंश का लाड़ला छन्द दोहा और उसकी काव्य-यात्रा

- डॉ. त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी'

■

अपभ्रंश-साहित्य विविध काव्य-रूपों तथा मात्रा-छन्दों का प्रेरक और जन्मदाता रहा है। इसके प्रणेता जैन-अजैन कवियों और मुनियों ने लोक-मानस से निःसृत न जाने कितने लोक-गीतों की धुनों, लयों और तुकों के आधार पर अजाने-अनगिनती मात्रा-छन्दों को नाम दिया और इस प्रकार एक नूतन छन्द-शास्त्र ही गढ़ दिया। परवर्ती हिन्दी-साहित्य इसके लिए इसका चिर-ऋणी रहेगा। छन्द-शास्त्र के साथ लोक-संगीत का यह नूतन परिपाक इनकी नित-नवीन मौलिक उद्‌भावना थी। इन मात्रा-छन्दों में इस काल में दोहा सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ और अपभ्रंश का लाड़ला छन्द बन गया। यह भी लोक-छन्द ही है; जिस प्रकार 'गाहा' या 'गाथा' प्राकृत का लोकछंद था और 'श्लोक' लौकिक संस्कृत का। इसके लिए छन्द-ग्रन्थों में अनेक नाम प्रयुक्त हुए हैं; यथा, 'दुवहअ' (स्वयंभू छन्दस्, वृत्तजाति-समुच्चय), 'दोहक' (छन्दोनुशासनम्), 'दोधक' (प्राकृत-पैंगलम्) तथा 'दोहा' (छन्दः कोश, छन्द प्रभाकर)। इसी प्रकार परवर्ती हिन्दी-साहित्य में इसके लिए अनेक नामों का संकेत मिलता है; यथा, 'पृथ्वीराजरासो' में 'दोहा', 'दुहा' तथा 'दूहा'। कबीर आदि संतों की साखियाँ तथा नानक के 'सलोकु' वस्तुतः दोहा के ही नामान्तर हैं। तुलसीदासजी ने 'साखी, सबदी, दोहरा' कहकर इसके 'दोहरा' नाम का संकेत किया है। इस प्रकार यह 'दोहा' छन्द अपभ्रंश और परवर्ती हिन्दी-साहित्य में अत्यधिक प्रचलित हुआ।

जहाँ इस दोहा छन्द ने अपभ्रंश के जैन-कवियों की नीतिपरक तथा आध्यात्मिक-वाणी को संगीत की माधुरी से अनुप्राणितकर लोक-हृदय की वस्तु बनाया, वहाँ सिद्धों ने भी अपने

लोक-व्यापी प्रभाव के लिए अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया। सिद्ध सरहपा ने तो 'णउ णउ दोहाच्छन्दे कहवि न किम्पि गोप्य' कहकर इसके प्रति अपनी विशेष अभिरुचि व्यक्त की। राजस्थानी के 'ढोला-मारू-रा-दूहा' जैसे लोकप्रिय गीत-काव्य में भी इसका प्रयोग किया गया। वस्तुतः अपभ्रंश के अन्य मात्रिक-छन्दों की भाँति यह भी लोक-गीत-पद्धति की देन है और वहीं से शिष्ट-साहित्य में प्रविष्ट हुआ है। 'प्राकृत-पैंगलम्' में इसके तेईस नामों का संकेत है। आचार्य हेमचंद्र ने अपने 'छन्दोऽनुशासनम्' में एक 'उपदोहक' नाम का भी संकेत किया है। जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने 'छन्द-प्रभाकर' में दोहे के साथ दोही के भी लक्षण बताये हैं। डॉ. मोतीलाल मेनारिया ने डिंगल में प्रचलित दोहा के पाँच भेद गिनाये हैं – दूहो, सोरठियो दूहो, बड़ो दूहो, तूंबेरी दूहो और खोड़ो दूहो[2]। ये सभी दोहे राजस्थानी साहित्य की निधि हैं। साहित्य या काव्य हृदय की वस्तु है जिसका लावण्य लोक-मानस में प्रतिबिंबित होता है। यही लोक-मानस विविध काव्य-रूपों तथा छन्दों की एकमात्र नित्य-भूमि है। शिष्ट-साहित्य यहीं से प्रेरणा लेकर अपना मार्ग प्रशस्त करता है और इसी से साहित्य के लोक-तात्त्विक अध्ययन की आवश्यकता होती है। अतएव 'दोहा' अपभ्रंश का एक लोक-छन्द ही है।

स्वरूप की दृष्टि से 'दोहा' नाम स्वयं इसके द्वि-पदात्मक-रूप का परिचायक है जिस प्रकार 'चउपई' या 'चौपाई' कहने से इसके चतुष्पादात्मक रूप का और 'छप्पय' कहने से षट्-पादात्मक रूप का परिचय मिलता है। विकास की दृष्टि से इसे प्राकृत के 'गाहा' या 'गाथा' छन्द से विकसित कहा जाता है, पर ऐसा है नहीं। अपभ्रंश के मात्रा-छन्दों में तुक का प्रयोग, लोक-गीतों और नृत्यों को विविध तालों का प्रयोग अपनी मौलिकता थी। प्राकृत के गाथा छन्द में तुक का विधान नहीं है, लेकिन यह अपभ्रंश के दोहा छन्द की विशेषता है। अस्तु, यह दोहा छन्द पूर्ववर्ती प्राकृत के 'गाथा' का विकास नहीं, बल्कि अपभ्रंश का ही लोकप्रिय छन्द है और इसी रूप में अपने परवर्ती हिन्दी-काव्य में प्रयुक्त हुआ है।

छांदिक-विधान की दृष्टि से 'दोहा' 48 मात्रा का मात्रिक छंद है जिसमें 24-24 मात्राओं के दो चरण होते हैं, 13, 11 मात्राओं पर यति का नियम है एवं अंत में एक लघु (।) होता है।[3] प्रायः सभी छन्द-शास्त्रकारों ने इसी क्रम को प्रधानता दी है। किन्तु, इसके बहुलशः लोक-प्रयोग ने प्रस्तुत क्रम में व्यतिक्रम उत्पन्न कर दिया है और यह लोकाभिव्यक्ति में बहुधा होता है। सिद्ध-साहित्य में भी डॉ. धर्मवीर भारती ने इसके 13+11; 13+12 तथा 14+12 तीन रूपों का संकेत किया है।[4]

किन्तु, अपभ्रंश के इस लाड़ले छंद का सर्वप्रथम प्रयोग महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में मिलता है।[5] डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस दोहे की भाषा को अपभ्रंश ही माना है और इसे प्रक्षिप्त मानने के आधार का खंडन किया है।[6] संस्कृत के अनेक नाटकों के बीच-बीच में लोकभाषा प्राकृत तथा अपभ्रंश की गीतियों का विधान मिलता है। इस प्रकार चौथी-पाँचवीं सदी में भी अपभ्रंश-साहित्य की छुट-पुट विद्यमानता का आधार हाथ लग जाता है। तदुपरि तो हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत-व्याकरण में अनेक वीर और शृंगाररसपूर्ण दोहे उपलब्ध होते हैं।

इसके अतिरिक्त पश्चिम में जैन-मुनियों के अपभ्रंश के कई दोहा-काव्य मिलते हैं जिनमें 'पाहुड-दोहा', 'सावयधम्म दोहा' तथा 'परमात्म-प्रकाश' उल्लेख्य हैं। बारहवीं सदी की अब्दुल

रहमान-कृत 'संदेश-रासक' नामक अपभ्रंश की जैनेतर रचना में भी दोहा-छन्द का सफल प्रयोग द्रष्टव्य है। अन्य विविध जैन तथा जैनेतर रास या रासौ-काव्यों में भी यह प्रयोग दर्शनीय है। राजस्थानी के तो 'ढोला-मारू-रा-दूहा' आदि अनेक लोक-गीतों में यह दोहा-शैली मौखिक-रूप में दूर तक प्रसार पाती है।

पूर्व में बौद्ध-सिद्धों की वाणी का प्रचार भी दोहा के माध्यम से हुआ था। उनके 'दोहा-कोश' इस तथ्य के परिचायक हैं तथा वज्रगीतियों में भी वे दोहा-छन्द का प्रयोग करते थे और उन्हें विशेष उत्सवों के समय गाया करते थे।[7] फिर भी, इस छन्द के शास्त्रीय विधान का जितना निर्वाह जैन और जैनेतर काव्यों में मिलता है, उतना बौद्ध-सिद्ध नहीं कर पाये। कारण, बौद्धों की गुह्य साधना ने इन्हें जन-जीवन से अलग कर दिया था, जबकि अपभ्रंश का साहित्य जनता के हितार्थ लोक-जीवन के मध्य लिखा गया, इसलिए उसमें जन-जीवन का स्पन्दन था। अस्तु, सिद्धों की दोहा-कोशवाली परंपरा अधिक दिन तक न ठहर सकी और आठवीं-दसवीं सदी में नाथ-पंथियों के उदय के साथ क्षणे-क्षणे समाप्त हो गई। वस्तुत: साहित्य वही जीवित रह सकता है जिसमें लोक-संवेदना का प्रवाह हो और अभिव्यक्ति में छन्दों की संगीतमयी मादकता हो। इस विचार से पश्चिम की जैन-परंपरा अधिक पुष्ट थी। अत: विकास की दृष्टि से दोहों की मुक्तक-परंपरा बौद्धों की पूर्वी परंपरा न होकर, जैन तथा जैनेतर कवियों की पश्चिमी अपभ्रंश की चिरंतन परम्परा है और परवर्ती हिन्दी-साहित्य में मध्यकालीन निर्गुणपंथी कबीर आदि संत-कवियों में दर्शनीय है। तथा बाद में तुलसीदासजी की 'दोहावली', मतिराम 'दोहावली' और रहीम आदि के दोहों में होती हुई सत्रहवीं-अठारहवीं सदी के मध्य से आधुनिक-काल तक बढ़ जाती है। मुक्तक-काव्य-रूप की अभिव्यक्ति में जितना दोहा छन्द सफल रहा है, उतना कोई अन्य छन्द नहीं।

मुक्तक-काव्य-रूप से तात्पर्य उस स्वतंत्र और स्वयंपूर्ण कविता से है जिसमें पूर्वापर संबंध नहीं होता, अथ च प्रत्येक छन्द रसानुभूति में पूर्ण सक्षम तथा सफल होता है। घनाक्षरी जैसे बड़े तथा विस्तृत छन्दों में तो भाव की व्यंजना करके अनेक रीतिकालीन कवियों ने अपनी कला-चातुरी का परिचय दिया है; किन्तु दोहा जैसे लघु-काय छंद में भाव की गंभीरता और कला-सौजन्य की सृष्टि में बिहारी के साथ मतिराम जैसा विरला कवि ही सफल हो सका है। भाव की सूक्ष्म किन्तु परिपूर्ण अभिव्यक्ति में जो स्थान प्राकृत में 'गाहा' या 'गाथा' छन्द का रहा, संस्कृत में 'आर्या' छन्द का रहा, वही स्थान अपभ्रंश और हिन्दी में 'दोहा' छन्द का रहा है। 'गाहा' या 'गाथा' छन्द का प्रयोग हिन्दी के आदिकालीन 'पृथ्वीराज-रासौ' तथा 'सन्देश-रासक' में भी किया गया है।[8] रासौ में आर्या छन्द का भी प्रयोग हुआ है। किन्तु, आदिकाल के उपरांत इन दोनों छन्दों का प्रयोग नहीं मिलता। 'दोहा' जहाँ तुक-युक्त और ह्रस्वांत होता है, वहाँ 'गाहा' तुक-हीन और दीर्घान्त होता है।

मुक्तक-रूप में दोहे का प्रयोग सूर आदि कृष्ण-भक्त कवियों में भी मिलता है। परन्तु, उन रसिक-भक्त-कवियों की संगीत-प्रियता तथा कला-कल्पना की स्वच्छंदता ने उसे पृथक काव्य-रूप के सौजन्य से मंडित किया है जिसे 'पद-काव्य-रूप' कहा गया है और जो गीत-काव्य की परंपरा का ही परवर्ती विकास है। वस्तुत: पद कोई छन्द नहीं है अथ च, उसके विधान में अनेक छन्दों का प्रयोग अपने ढंग से भक्त-कवियों ने कर डाला है। इसी से इसके रूप-विधान में जहाँ-तहाँ भिन्नता के दर्शन होते हैं। यथा -

(1) सामान्य रूप में -

गैल न छांडै सांवरौ, क्यों करि पनघट जाउं ।
इहि सकुचनि डरपति रहौं, धरै न कोउ नाउं ॥[9]

(2) लोक-गीतात्मक पद्धति के साथ -

कहु दिन ब्रज औरो रहौ, हरि होरी है ।
अब जिन मथुरा जाहु, अहो हरि होरी है ॥
परब करहु घर आपने, हरि होरी है ।
कुसल छेम निरबाहु, अहो हरि होरी है ॥[10]

प्रस्तुत पद में से लोक-गीतात्मक अर्ध पंक्ति को हटा दिया जाय तो विशुद्ध दोहा अपने पूर्ण मुक्तक-रूप में समक्ष आ जाता है -

कहु दिन ब्रज-औरो रहौ, अब जिन मथुरा जाहु ।
परब करहु घर आपने, कुसल छेम निरबाहु ॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि दोहा छन्द ने अपभ्रंश की मुक्तक-काव्य-परंपरा को हिन्दी में बहुत दूर तक विकसित किया है। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से एक ओर यह वीर तथा शृंगार-रस की अभिव्यक्ति का आधार बना है और दूसरी ओर धार्मिक, उपदेशात्मक तथा नीतिपरक कथनों की प्रेषणीयता का भी मूलभूत अबलम्ब सिद्ध हुआ है। परवर्ती हिन्दी-काव्य में इसके ये दोनों ही रूप दर्शनीय हैं। एक का चरम विकास 'वीर-सतसई' तथा 'बिहारी-सतसई' के रूप में देखा जाता है, तो दूसरे का उत्कर्ष सन्त-कवियों के माध्यम से रहीम के दोहों तथा तुलसी-दोहावली आदि में द्रष्टव्य है। छांदसिक-विधान की दृष्टि से सिद्ध तथा कबीर आदि संतों में इसके अपवाद भी मिलते हैं।

वहाँ कहीं अन्त में एक लघु के स्थान पर एक दीर्घ बन गया है तो कहीं चरणों की मात्राओं में वृद्धि हो गई है। यथा -

(1) **बरियां बीती बल गया, अरु बुरा कमाया ।**
हरि जिन छांड़ै हाथ थैं, दिन नेड़ा आया ॥[11]

(2) **णउ घरे णउ बणे बोहि हिउ एहु परिआणहु भेउ ।**
णिम्मल चित्त सहावता करहु अविकल सेउ ॥[12]

फिर भी, इस दोहा छंद ने स्वयं को लोक-गीतों की शैली में संपृक्त करके मुक्तक-रूप के स्वरूप को और अधिक लुभावना तथा मोहक बना दिया है। राजस्थानी के लोकप्रिय प्रणय-गीत 'ढोला-मारू-रा-दूहा' में इस छंद का इस रूप में प्रयोग अधिक सफल तथा व्यंजनापूर्ण रहा है। लोक-संस्पर्श ने उसके मार्दव में चार चाँद लगा दिये हैं। कबीर की अनेक साखियों पर इसकी छाया स्पष्ट दीख पड़ती है -

राति जु सारस कुरलिया, गुंजि रहे सब ताल ।
जिनकी जोड़ी बीछड़ी, तिड़का कवण हवाल ॥ 53 ॥

– ढोला-मारू-रा-दूहा (सभा) पृ. 17

अंबर कुंजा कुरलियां, गरजि भरे सब ताल ।
जिनि पै गोविन्द बीछुटे, तिनके कौण हवाल ॥

– कबीर-ग्रंथावली (सभा) विरह कौ अंग, पृ. 7

मुक्तक के अतिरिक्त प्रबंध-प्रणयन में भी इसका प्रयोग हिन्दी-काव्य में देखा जाता है और इसका सूत्रपात भी अपभ्रंशकालीन विविध रचनाओं में हो गया था। वहाँ कतिपय अर्द्धालियों के बाद किसी द्वि-पादात्मक-छन्द के प्रयोग की परंपरा मिलती है। जिनपद्मसूरि के 'स्थूलिभद्द-फागु' नामक कृति में कुछेक अर्द्धालियों के बाद दोहे का प्रयोग इस रूप में सर्वप्रथम दर्शनीय है। अपभ्रंश-साहित्य में इस प्रकार की शैली को कड़वक-शैली कहा गया है और वह तत्कालीन जैन-मुनियों द्वारा प्रणीत विविध रास-काव्यों, चरिउ-काव्यों की प्रबंधपरक प्रधान शैली रही है। यही परम्परा परवर्ती हिन्दी-साहित्य में जायसी आदि सूफियों तथा कबीर की रमैनियों के माध्यम से तुलसीदास तथा अन्य राम-कृष्ण-शाखा के भक्त-कवियों तक बढ़ आती है। इस परंपरा का संकेत अपभ्रंश की ही पूर्वी सिद्ध-परंपरा में मिल जाता है। यथा -

एबकु न किंज्जइ मन्त न तन्त ।
णिअ धरिणी लइ केलि करन्त ॥
णिअ घरे घरिणी जाव ण मज्जइ ।
ताव कि पंचवण विहरिज्जइ ॥

जिम लोण विलिज्जइ पाणिसहि तिम घरिणी लइ चित्त ।
समरस जाइ तक्खणे जइ पुणु ते सम णित्त ॥[13]

कबीर में ये कहीं सप्तपदी, कहीं अष्टपदी और कहीं बारहपदी मिलती हैं। प्रबंध प्रणयन के विकास में दोहा-छंद का यह शैलीगत प्रयोग निसंदेह नवीन और मौलिक है।

अपभ्रंशकालीन प्रबंधों में इन कड़वकों की रचना में दोहा-चौपाई या अर्द्धाली के अतिरिक्त अन्य समान छंदों का भी प्रयोग होता रहा था। परन्तु, हिन्दी के मध्य-युग तक आते-आते चौपाई-दोहा का प्रचलन और प्रयोग ही प्रधान हो गया था। क्या जायसी आदि सूफियों के प्रेमाख्यानों में और क्या तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' में और क्या कृष्ण-भक्त नंददास की 'मंजरी' नामक प्रबंधात्मक कृतियों में, सर्वत्र यही प्रयोग दर्शनीय है। नंददास ने तो कड़वक के प्रारम्भ में भी कतिपय दोहों का प्रयोग अपभ्रंश के पुष्पदंत की भाँति किया है और 'रामचरित-मानस' में चौपाइयों के बाद अनेक दोहों तथा सोरठा का भी प्रयोग किया है। 'सोरठा' अपभ्रंश का प्रिय छंद तो नहीं, पर मुनि जोइंदु के 'परमात्मप्रकाश' में इसका प्रयोग किया गया है। वस्तुतः यह दोहे का ही प्रतिरूप है। किसी भी दोहे को उलटकर सोरठा बनाया जा सकता है। कहीं-कहीं सिद्धों में इसका प्रयोग अपवाद-जैसा है। परन्तु, हिन्दी में इसका बहुलशः प्रयोग देखा जाता है। इस प्रकार दोहा-छंद यहाँ तक आते-आते मुक्तक के साथ प्रबंध-परंपरा का भी प्रमुख अंग बन जाता है। कतिपय चौपाइयों के बाद यह वही कार्य करता है जो पूर्ववर्ती अपभ्रंश के प्रबन्धों में 'घत्ता' आदि छन्द।

चौपाई-मिश्रित अपने इस प्रबंधगत प्रयोग के अतिरिक्त 'रोला' के साथ भी दोहा का प्रबंधात्मक-रूप हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवि नंददास ने 'भ्रमरगीत' में किया है। प्रथम दोहा और तदुपरि रोला का प्रयोग राजशेखर सूरि ने 'नेमिनाथफागु' में किया है। अपभ्रंश के फागु-काव्यों की यह विशिष्ट शैली रही है और वर्णनप्रधान ही अधिक है। यथा -

सरल तरल भुयवल्लरिय सिहण पीणघण तुंग ।
उदरदेसि लंकाउली य सोहइ तिवलतुरंग ॥ 10॥

अह कोमल विमल नियंबबिंब किरि गंगापुलिणा,
करिकर ऊरि हरिण जंघ पल्लव करचरणा,
मलपति चालति वेल हीय हंसला हरावइ,
सझारागु अकालि बालु नहकिरणि करावइ ॥ 11 ॥[14]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने विकास-क्रम में दोहा दो काव्यरूपों में प्रयुक्त हुआ है - एक मुक्तक काव्यरूप और दूसरा प्रबंध-प्रणयन की दृष्टि से, और दोनों ही रूपों में यह पश्चिमी अपभ्रंश का ही प्रभाव है। तभी तो राजस्थानी के 'ढोला-मारू-रा-दूहा' लोक-गीतात्मक-प्रबन्ध का प्राणाधार बना। पूर्वी अपभ्रंश में सिद्धों की परम्परा नौवीं-दसवीं सदी में नाथ-साहित्य में परिणत हुई, किन्तु इसमें भी दोहा-छन्द का प्रयोग नहीं मिलता। स्पष्ट है दोहा पश्चिमी अपभ्रंश का छंद है और वहीं से परवर्ती साहित्य में इसका विकास हुआ। इस प्रकार यह अपनी काव्य-यात्रा में एक ओर मुक्तक के रूप में जैनों के आध्यात्मिक और नीतिपरक साहित्य का वाहक बना, तदुपरि हिन्दी के परवर्ती मुक्तक-काव्य को दूर तक प्रभावित किया और दूसरी ओर कभी अपभ्रंश की कड़वक-शैली के रूप में प्रबन्ध-प्रणयन की परंपरा को विकसित करता रहा तो कभी 'रोला' छन्द के साथ नूतन शिल्प का विधान करता रहा।

---

1. छन्द-प्रभाकर, जगन्नाथप्रसाद 'भानु', पृ. 92।
2. राजस्थानी भाषा और साहित्य, डॉ. मोतीलाल मेनारिया, पृ. 82।
3. छन्द-प्रभाकर, जगन्नाथप्रसाद 'भानु', पृ. 92।
   प्राकृत-पैंगलम्, संपा. - डॉ. व्यास, पृ. 78।
4. सिद्ध-साहित्य, डॉ. धर्मवीर भारती, पृ. 293-294।
5. मइं जाणिअं मियलोयणी, णिसयरु कोइ हरेइ ।
   जाव ण णव जलि सामल, धाराहरु बरसेइ ॥ - विक्रमोर्वशीय, कालिदास, 4 अंक।
6. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डॉ. ह. प्र. द्विवेदी, पृ. 98।
7. सिद्ध-साहित्य, डॉ. धर्मवीर भारती, पृ. 294।
8. पृथ्वीराज-रासौ में 'गाहा' और 'गाथा' दोनों नाम प्रयुक्त हुए हैं। यथा, समय 1, 5, 6, 7, 8, 14, 23, 24, 25, 44, 48, 57, 61, 66 तथा 68. संदेश-रासक में 'गाहा' नाम का ही प्रयोग हुआ है। यथा, प्रथम प्रक्रम 1-17 छन्द, द्वितीय प्रक्रम में 32-40, 72, 84, 90, 93, 126-129; तृतीय प्रक्रम में 149, 152-153, 172, 213 तथा 221।
9. सूर-सागर (सभा), दशम स्कंध, पद 1443, पृ. 759।
10. वही, पद 2915, पृ. 1263।
11. कबीर-ग्रंथावली (सभा), काल कौ अंग, पृ. 75।
12. जर्नल ऑफ दी डिपार्टमेंट ऑफ लेटर्स, यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, Vol. XXVIII, पृ. 23।
13. वही, Vol. XXVIII, पृ. 27।
14. फागु-संग्रह, नेमिनाथ फागु, पृ. 35।

49-बी, आलोक नगर
आगरा-282 010

अपभ्रंश साहित्य में वस्तु-वर्णन

- डॉ. इन्द्र बहादुर सिंह

■

पतंजलि के समय तक उन सब शब्दों को अपभ्रंश समझा जाता था जो संस्कृत भाषा से विकृत होते थे। भामह[1] और दण्डी[2] ने अपभ्रंश को काव्योपयोगी भाषा और काव्य का एक विशेष रूप माना है। दण्डी ने समस्त वाङ्मय को चार भागों में विभक्त किया है -

तदेतद् वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा ।
अपभ्रशंश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम् ।।[3]

यहाँ तक आते-आते अपभ्रंश वाङ्मय के एक भेद के रूप में स्वीकृत हो गया था। लेकिन आभीरों के साथ उसका संबंध बना हुआ था। इसी से अपभ्रंश भाषा 'आभीरोक्ति' या 'आभीरादिगीः' कही गयी है। आभीरोक्ति होते हुए भी दण्डी के समय तक इसमें काव्य-रचना होने लगी थी। इसी प्रकार 'कुवलयमाला कथा' के लेखक उद्योतन सूरि भी अपभ्रंश-काव्य की प्रशंसा करते हैं।[4] 'काव्यालंकार' में रुद्रट अपभ्रंश को अन्य साहित्यिक प्राकृतों के समान गौरव देते हुए देश-भेद के कारण विविध अपभ्रंश भाषाओं का उल्लेख करते हैं। अपने 'महापुराण' में पुष्पदन्त ने संस्कृत और प्राकृत के साथ अपभ्रंश का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। उस समय राजकुमारियों को संस्कृत और प्राकृत के साथ अपभ्रंश का भी ज्ञान कराया जाता था।[5] राजशेखर ने अपभ्रंश भाषा को पृथक साहित्यिक भाषा के रूप में स्वीकार किया है -

शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः ।
जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम् ।।[6]

इसके अनन्तर नमि साधु (1069 ई.), मम्मट (11वीं शताब्दी), वाग्भट (1140 ई.), विष्णुधर्मोत्तर का कर्त्ता, हेमचन्द्र, नाट्यदर्पण में रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र (12वीं शताब्दी) और 'काव्यलता परिमल' में अमरचन्द्र (1250 ई.) आदि ने अपभ्रंश को संस्कृत और प्राकृत की श्रेणी की साहित्यिक भाषा स्वीकार की है। "आभीरी भाषापभ्रंशस्था कथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते –" से स्पष्ट होता है कि 1069 ई. के आसपास अपभ्रंश का कोई रूप मगध तक फैल गया था और उसकी कोई बोली मगध में भी बोली जाने लगी थी। अमरचन्द्र षड् भाषाओं में अपभ्रंश की भी गणना करते हैं –

संस्कृतं प्राकृतं चैव शौरसेनी च मागधी ।
पैशाचिकी चापभ्रंशं षड् भाषाः परिकीर्त्तिताः ॥[7]

अपभ्रंश शब्द का प्रयोग यद्यपि महाभाष्य से भी कुछ शताब्दी पूर्व मिलता है, फिर भी अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भाषा के रूप में कब से प्रयुक्त होने लगा, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। भाषा-वैज्ञानिकों ने अपभ्रंश-साहित्य का आरम्भ 500 या 600 ई. से माना है। किन्तु अपभ्रंश भाषा के जो लक्षण इन्होंने निर्धारित किये हैं उनके उदाहरण अशोक के शिलालेखों में मिलते हैं। इसी प्रकार 'धम्मपद' में भी अनेक शब्दों में अपभ्रंश-रूप दिखायी देता है। 'ललित-विस्तर' और महायान सम्प्रदाय के अन्य बौद्ध ग्रंथों की गाथा संस्कृत में भी अपभ्रंश का रूप दृष्टिगत होता है। प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान तारानाथ ने लिखा है – "बौद्धों के सम्मितीय समुदाय के 'त्रिपिटक' के संस्करण पालि, संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश में भी लिखे गये।"

उपर्युक्त विवेचन एवं विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं *की उत्तरकालीन अवस्था को अपभ्रंश का नाम दिया गया है। साहित्यिक प्राकृतों के व्याकरण* बन जाने के कारण उसका स्वाभाविक विकास रुक गया। साहित्यिक प्राकृतों के विकास रुक जाने पर बोलचाल की भाषाएँ और आगे बढ़ी और अपभ्रंश के नाम से विख्यात हुईं। धीरे-धीरे अपभ्रंश ने भी साहित्य के क्षेत्र में स्थान पाया और अपभ्रंश में भी साहित्य रचा जाने लगा।

संस्कृत और प्राकृत व्याकरणों के समान हेमचन्द्र, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर, मार्कण्डेय आदि वैयाकरणों ने अपभ्रंश को भी व्याकरण के नियमों से बाँधने का प्रयत्न किया। फलतः अपभ्रंश की वृद्धि भी रुक गयी। कालान्तर में अपभ्रंश से ही भिन्न-भिन्न वर्त्तमान भारतीय प्रान्तीय-साहित्यों का विकास हुआ।

भारतीय वाङ्मय में वस्तु-वर्णन की परम्परा बड़ी प्राचीन है। वस्तु-वर्णन की यह परंपरा धीरे-धीरे रूढ़ रूप धारण करती गयी। मध्यकालीन काव्यग्रंथों में वस्तु-वर्णन कवि-शिक्षा का एक अनिवार्य अंग बन गया था। कवि इसे काव्य के दूसरे अवयवों की तरह सीखते और प्रयोग में लाते थे। यह सच है कि प्राचीन वस्तु-वर्णन में सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का दर्शन यत्र-तत्र होता है, किन्तु अधिकांश कवियों ने परंपरा का ही अनुकरण किया है। राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में काव्यों की श्रेष्ठता का मानदण्ड नव-वस्तु का चुनाव और वर्णन भी माना है –

शब्दार्थशासनविदः कवि नो कवन्ते
यद्वाङ्मयं श्रुतिघनस्य चकास्ति चक्षुः ।
किन्त्वस्ति यद्वचसि वस्तु नवं
सदुक्ति सन्दर्भिणा सधुरि तस्यगिरः पवित्रः ॥[8]

प्रारंभ में संस्कृत-काव्य में वस्तु-वर्णन के क्षेत्र में पर्याप्त मौलिकता और नवीनता दिखायी देती है। महाकवि बाण इसके अद्वितीय उदाहरण हैं। संस्कृत भाषा में नगर-योजना संबंधी विपुल साहित्य मिलता है। अग्नि, गरुड़, मत्स्य और भविष्य पुराणों में नगर-योजना पर सविस्तार लिखा गया है। 'मानसार' ग्रंथ में नगर-विन्यास और व्यवस्था का बहुत विस्तृत विवरण मिलता है। उसमें नगर, खेट, खर्वट, पत्तन, कुब्जक आदि कई श्रेणियाँ बतायी गयी हैं। तंत्र और आगम ग्रंथों में भी नगर-वर्णन देखने को मिलता है। 'कामिकागम' और 'सुप्रभेदागम' में नगर-योजना पर प्रकाश डाला गया है। महाराज भोज के राज्यकाल में लिखा गया 'समरांगणसूत्रधार' में नगर-योजना का विस्तृत विवरण है। सबसे सुन्दर नगर वर्णन 'पादताडितकम' भाणी में मिलता है। इसके रचयिता श्यामलिक हैं। श्यामलिक ने नगर को सार्वभौम मानकर उसका वर्णन किया है - 'बाज़ार (विपणि) में स्त्री-पुरुषों की भीड़ लगी रहती थी जो जल और थल-मार्गों से लाये हुए सामानों के बेचने में व्यस्त रहते थे। लोगों के धक्के-मुक्के और हुल्लड़ से ऐसा शोर होता था जैसा चरागाहों में गायों का या संध्याकालीन आवास पर कौवों का होता था। कारीगरों की धड़-धड़ और दस्तकारों की टन-टन कानों को फोड़ती थी। लुहारों के कारखानों में निरन्तर खट-खट होती रहती थी। कसेरे जब बरतनों को खरादकर उतारते थे तो कुररी जैसा शब्द होता था। शंखकार जब छेनियों से शंखों को तरासते थे तो सैं-सैं की आवाज़ आती थी, जैसे घोड़े जोर से साँस ले रहे हों। मालाकारों की दुकानों पर फूल और गज़रे सजे थे और शौंडिकों की शालाओं में सुरा के चषक चलते थे। बाज़ार में सब दिशाओं से आये हुए लोगों की इतनी भीड़ होती थी कि चलने को रास्ता नहीं मिलता था'।[9]

मध्यकालीन साहित्य में वर्णित वस्तु-वर्णन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है भारतीय पद्धति पर मुसलमानी प्रभाव के अंकन का परिज्ञान। मुसलमानी आक्रमण ने न केवल हिन्दू राज्यों को नष्ट किया बल्कि हमारी सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन भी लाया। मुसलमानों के आक्रमण का सबसे अधिक प्रभाव भारतीय नगर-जीवन पर पड़ा। डॉ. खलीक अहमद निज़ामी ने इस प्रभाव पर प्रकाश डालते हुए लिखा है - "उत्तरी भारत पर तुर्की आक्रमण और आधिपत्य का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा कि नगर-योजना की प्राचीन पद्धति छिन्न-भिन्न हो गयी। मुसलमानों के सार्वभौम नगरों ने राजपूत युग के जातीय नगरों का स्थान ले लिया। श्रमिकों, कारीगरों और चाण्डालों के लिए नगरों के द्वार खोल दिये गये। नगरों के परकोटे निरन्तर सरकते और बढ़ते रहे। इनके भीतर ऊँच और नीच सब प्रकार के लोगों ने अपने घर बनाये और वे एक-दूसरे के साथ बिना किसी सामाजिक भेदभाव के रहने लगे। यह योजना तुर्क प्रशासकों को पसन्द आयी, जो अपने कारखानों, दफ्तरों, घरों में काम कराने के लिए सभी श्रमिकों को अपने पास रखना चाहते थे। फलतः नगरों का विस्तार हुआ और समृद्धि बढ़ी।"[10]

मध्यकालीन नगरों में चौरासी हाटों का वर्णन विभिन्न ग्रंथों में मिलता है। माणिक्यचन्द्र सूरि ने वाग्विलास (पृथ्वीचन्द्र चरित्र) में चौरासी हाटों के नाम गिनाये हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार

हैं - (1) सोनी हटी, (2) नाणावर हटी, (3) सौगंधिया हटी, (4) फोफलिया, (5) सूत्रिया, (6) षडसूत्रिया, (7) घीया, (8) तेलहरा, (9) दन्तरा, (10) बलीयार, (11) दोसी, (12) मणीयारहटी, (13) नेस्ती, (14) गंधी, (15) कपासी, (16) फडीया, (17) फडीहटी, (18) एरंडिया, (19) रसणीया, (20) प्रवालीया, (21) सोनार, (22) त्रांबहटा (ताम्र), (23) सांषहटा, (24) पीतलगरा, (25) सीसाहडा, (26) मोतीप्रोया, (27) सालवी, (28) मीगारा, (29) कुँआरा, (30) चूनारा, (31) तूनारा, (32) कूटारा, (33) गुलीयाल, (34) परीयटा, (35) घांची, (36) मोची, (37) सुई, (38) लोहटिया, (39) लोढारा, (40) चित्रहरा, (41) सतूहारा इत्यादि।

इसी प्रकार सधार अग्रवालकृत 'प्रद्युम्नचरित' (1411 वि. सम्वत्) में भी चौरासी हाटों का वर्णन मिलता है -

इक सों बने धवल आवास ।
मठ मंदिर देवल चउपास ॥
चौरासी चौहट्ट अपार ।
बहुत भाँति दीसइ सुविचार ॥[11]

प्राचीन वाङ्मय में वस्तुवर्णन अनेक रूपों में पाया जाता है। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं - उपवन, दरवार, दारषोल, दारिगह, वारिगह, निमाजगह, षोरमगह, प्रासाद, प्रमदवन, पुष्पवाटिका, कृत्रिम नदी, क्रीड़ाशैल, धारागृह, शृंगार-संकेत, माधवी-मण्डप, विश्राम-चौरा, चित्रशाली, खट्वाहिंडोल, कुसुमशय्या, प्रदीपमाणिक्य, चन्द्रकान्त शिला, चतुस्समपल्लव, वेश्याहाट, अलका-तिलका, अश्ववर्णन, हस्तिसेना, सैन्य-संचरण, युद्ध-वर्णन आदि।

अपभ्रंश कवियों ने महाकाव्यों, चरित और कथाकाव्यों में भरपूर वस्तु-वर्णन किया है। जौनपुर के शाही महल के वर्णन में विद्यापति ने भारतीय और मुसलमानी भवन-निर्माण कला की जानकारी का सूक्ष्म परिचय दिया है। वहाँ प्रमुख द्वार की ड्योढ़ी में नंगी तलवारें लिये द्वारपाल खड़े थे। दरबार के बीच में सदर दरवाजे से चलकर शाही महल का लम्बा-चौड़ा मैदान, दरगाह, दरबारे आम, नमाज-गृह, भोजन गृह और शयन-गृह बने हुए हैं -

अहो अहो आश्चर्य! ताहि दारखोलहि करो दवाल दरवाल ओ ॥ 2.238 ॥
ञेञोन दरबार मेञोणे दर सदर
दारिगह वारिगह निमाजगह षोआरगह, षोरमगह ॥ 2.239 ॥
करेओ चित्त चमत्कार देषन्ते सब बोल भल ॥ 2.240 ॥
जनि अद्यपर्यन्त विश्वकर्मा यही कार्य छल ॥ 2.241 ॥[12]

महापुराण पुष्पदन्त द्वारा रचा गया महाकाव्य है। इसमें जनपदों, नगरों और ग्रामों का वर्णन बड़ा ही भव्य बन पड़ा है। कवि ने नवीन और मानव-जीवन के साथ संबद्ध उपमानों का प्रयोग कर वर्णनों को बड़ा सजीव बनाया है। मगध देश का वर्णन करता हुआ कवि कहता है -

जहिं कोइलु हिंडइ कसण पिंडु वण लच्छिहे णं कज्जल करंडु ।
जहिं सलिइं मारुथ पेल्लियाइं रवि सोसण भएण व हल्लियाइं ॥
जहिं कमलहं लच्छिइ सहुं सणेहु सहुं ससहरेण वड्ढिउ विरोहु ।
किर दो वि ताइं महणु ब्भवाइं जाणंति ण तं जड संभवइं ॥
जुज्झंत महिस वसहुच्छवाइं मंथा मंथिय मंथणि रवाइं ॥[13]

जहाँ वनलक्ष्मी के कज्जल-पात्र के समान कृष्णवर्ण कोयल विचरती हैं। जहाँ वायु से आन्दोलित जल मानो सूर्य के शोषण-भय से हिल रहे हैं। जहाँ कमलों ने लक्ष्मी के साथ स्नेह और शशधर के साथ विरोध किया है, यद्यपि लक्ष्मी और शशधर दोनों क्षीर सागर के मन्थन से उत्पन्न हुए हैं और दोनों जल-जन्मा हैं किन्तु अज्ञानता से इस बात को नहीं जानते। जहाँ महिष और वृषभ का युद्धोत्सव हो रहा है। जहाँ मन्थन-तत्पर बालाओं के मन्थनी-रव के साथ मधुर गीत सुनायी पड़ते हैं। यहाँ पर प्राकृतिक दृश्यों द्वारा कवि ने नगर की शोभा श्री का वर्णन किया है। मगध देश में राजगृह की शोभा का वर्णन करते हुए कवि कहता है –

जहिं दीसह तहिं भल्लउ णयरु,
णवल्लउ ससि रवि अन्त विहूसिउ ।
उवरि विलंबियतरणिहे सग्गें,
धरणिहे णावइ पाहुडु पेसिउ ।।[14]

राजगृह मानों स्वर्ग द्वारा पृथ्वी के लिए भेजा हुआ उपहार हो। इसी प्रकार पोयण (पोदन) नगर का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वह इतना विस्तीर्ण, समृद्ध और सुन्दर था मानों सुरलोक ने पृथ्वी को प्राभृत (भेंट) दी हो –

तहिं पोयण णामु णयरु अत्थि वित्थिण्णउं ।
सुरलोएं णाइ धरिणिहि पाहुडु दिण्णउं ।।[15]

नगरों के इन विस्तृत वर्णनों में कवि का हृदय मानव-जीवन के प्रति जागरूक है मानो उसने मानव के दृष्टिकोण से विश्व को देखने का प्रयास किया है।

धवल कवि द्वारा रचित हरिवंशपुराण में कौशाम्बी नगरी का वर्णन मिलता है। इन वर्णनों में एकरूपता होते हुए भी नवीनता दिखायी देती है –

जण धण कंचण रयण समिद्धी, कउसंवीपुरी भुवण पसिद्धी ।
तहिं उज्जाण सुघण सुमणोहर, कमलिणि संडिहिं णाइ महासर ।।
बाविउ देवल तुंग महाघर, मणि मंडिय णं देवह मंदिर ।
खाइय वेढिय पासु पयारहो, लवणोवहि णं जंवू दीवहो ।।
तहिं जणु बहुगुण सिय संपुण्णउ, भूसिउ वर भूसणहिं रवण्णउं ।
कुसुम वत्थ तंबोलहि सुंदर, उज्जल वंस असेस वि तह णर ।
णर णारिउ सुहेण णिच्चंतइं, णिय भवणिहिं वसंति विलसंतइं ।।[16]

यश:कीर्ति-रचित हरिवंशपुराण में कवि ने सुन्दर अलंकृत शैली में हस्तिनापुर का वर्णन किया है। परिसंख्यालंकार में नगर का वर्णन दर्शनीय है –

छत्ते सुदंडु जिणहरु विहारु, पीलणु तिलए सीइक्खि फारु ।
सत्थे सुवंवु मोक्खु वि पसिद्धु, कंदलु कंदेसु विणउं विरुद्धु ।।
छिर छेउ सालि छेत्तहो पहाणु, इंदिय णिग्गहु मुणिगण हो जाणु ।
जडया जलेसु मंसु वि दिणेसु, संधीसु सुरागमु तहं ? सुरेसु ।।

णिसिया असिधारइ सूइएसु, खरदंडु पउमणालें असेसु ।
कोस खउ पहिय ह णाउ जणेसु, वंकत्तु भउहवे कुंचिएसु ॥
जड़ उद्धारु वि परु वालएसु, अवियड्ढत्तणु गोवय णरेसु ।
खलु खलिहाणें अहवा खलेसु, पर दारगमणु जहिं मुणिवरेसु ॥
कव्वलसु णिरसत्तु विपत्थरेसु, जड्डुविकसाल थी पुरिसएसु ।
धम्मेसु वसुण पूयासुराउ, मणुऊहट्टइ दित्तंहं ण चाउ ।
माणेसु माणु सीहेसु कोहु, दीणेसु माय दुद्धेसु दोहु ॥
सत्थेसु लोहु णउं सज्जणेसु, पर हाणि चिंत्ते दुज्जण जणेसु ।
तुरगामिउ मउ णउं तिय समूहु, अइ चंचलु अडइहिं मयह जोहु ।
विवुह हि दायारहिं वहुजणेहिं, जं सूहइ जण धण कण भरेहि ॥[17]

जसहरचरिउ में पुष्पदन्त ने यौधेय देश का वर्णन करते हुए लिखा है – यौधेय नाम का देश ऐसा है मानो पृथ्वी ने दिव्य वेश धारण किया हो। जहाँ जल ऐसे गतिशील है मानो कामिनियाँ लीला से गति कर रही हों। जहाँ उपवन कुसुमित और फलयुक्त हैं मानो पृथ्वी वधू ने नवयौवन धारण किया हो। जहाँ गौएँ और भैंसें सुख से बैठी हैं। जिनके धीरे-धीरे रोमन्थ करने से गंडस्थल हिल रहे हैं। जहाँ ईख के खेत रस से सुन्दर हैं और मानों हवा से नाच रहे हैं। जहाँ दानों के भार से झुके हुए पक्वशाली खड़े हैं। जहाँ शतदल कमल पत्तों और भ्रमरों से युक्त हैं। जहाँ तोतों की पंक्ति दानों को चुग रही है। ..... जहाँ जंगल में मृगों के झुण्ड ग्वालों से गाये जाते गानों को प्रसन्न मन से सुन रहे हैं –

जोहेयउ णामिं अत्थि देसु णं धरणिए धरियउ दिव्ववेसु ।
जहिं चलइं जलाइं सविब्भमाइं णं कामिणिकुलइं सविब्भमाइं ॥
कुसुमिय फलियइं जहिं उववणाइं णं महि कामिणिणव जोव्वणाइं ।
मंथर रोमंथण चलिय गंड जहिं सुहि णिसण्ण गोमहिसि संड ॥
जहिं उच्छुवणइं रस दंसिराइं णं पवण वसेण पणच्चिराइं ।
जहिं कणभर पणविय पिक्क सालि जहिं दीसइ सयदलु सदलु सालि ॥
जहिं कणिसु कीर रिंछोलि चुणइ गह वइ सुयाहि पडिवयणु भणइ ।
जहिं दिण्णु कण्णु वणि मयउलेण गोवाल गेय रंजिय मणेण ॥[18]

इसी प्रकार कवि ने राजपुर का भी बड़ा सरस वर्णन किया है।[19] पुष्पदन्त की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह इन सब वर्णनों में मानव-जीवन की उपेक्षा नहीं करता। कवि की दृष्टि नगरों के भोग-विलासमय जीवन की ही ओर नहीं रही, अपितु ग्रामवासियों के स्वाभाविक, सरल और मधुर जीवन की ओर भी गयी है। ग्वाल-बालों के गीत, गाय-भैंसों का रोमन्थ, ईख के खेत आदि दृश्य इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं। अवन्ती का वर्णन करते हुए कवि कहता है –

एत्थत्थि अवंतीणाम विसउ महिवहु भुँजाविय जेण विसउ ।
णं दंतहिं गामहिं बिडलारामहिं सरवर कमलहिं लच्छिसहि ॥
गलकल केक्कारहिं हंसहिं मोरहिं मंडिय जेत्थु सुहाइ महि ।
जहिं चुमुचुमंति केयार कीर वर कलम सालि सुरहिय समीर ॥

जहिं गोउलाइं पउ विक्किरंति पुंडुच्छु दंड खंडइं चरंति ।
जहिं वसह मुक्क ढेक्कारधीर जीहा विलिहिय णंदिणि सरीर ॥
जहिं मंथर गमणइं माहिसाइं दहरमणुड्डाविय सारसाइं ।
काहलियवंस रव रत्तियाउ वहुअउ घरकम्मिं गुत्तियाउ ॥
संकेय कुडुँगण पत्तियाउं जहिं झीणउ विरहिं तत्तियाउ ।
जहिं हालिणरूब णिवद्ध चक्खु सीमावडु ण मुअइ को वि जक्खु ॥
जिम्मइ जहिं एवहि पवासिएहिं दहि कूरु खीरु घिउ देसी एहिं ।
पव पालियाइ जहिं बालियाइ पाणिउ भिंगार पणालियाइ ॥
दिंतिए मोहिउ णिरु पहियविंदु चंगउ दक्खालिवि वयण चंदु ।
जहिं चउ पयाइं तोसिय मणाइं धण्णइं चरंति ण हु पुणु तिणाइं ॥
उज्जेणि णाम तहिं णयरि अत्थि जहिं पाणि पसारइ मत्त हत्थि ॥[20]

मुनि कनकामर करकंड चरिउ में अंगदेश का वर्णन करते हुए कहते हैं – अंगदेश ऐसा सुन्दर है मानो पृथ्वीरूपी नारी ने दिव्य वेश धारण कर लिया हो। जहाँ सरोवरों में उगे हुए कमल पृथ्वी-मुख पर नयनों के समान प्रतीत हो रहे हैं। जहाँ कृषक बालाओं के सौन्दर्य से आकृष्ट हो दिव्य देहधारी यक्ष भी स्तंभित और गतिशून्य हो जाते हैं। जहाँ चरते हुए हरिणों को गान से मुग्ध करती हुई बालाएँ शाली क्षेत्रों की रक्षा कर रही हैं। जहाँ द्राक्षाफलों का उपभोग करते हुए पथिक मार्ग के श्रमजन्य दुःख को खो देते हैं। जहाँ मार्ग सरोवरों में खिले कमलों की पंक्ति शोभायमान हो रही है मानो हँसती हुई पृथ्वी शोभायमान हो रही हो –

छखण्डभूमि रयणहं णिहाणु रयणायरो व्व सोहायमाणु ।
एत्थत्थि रवण्णउ अंगदेसु महि महिलइं णं किउ दिव्ववेसु ॥
जहिं सरवरि उग्गय पंकयाइं णं धरणिवयणि णयणुल्लयाइं ।
जहिं हालिणिरूवणिवद्धेणेह संचल्लहिँ जक्ख णं दिव्वदेह ॥
जहिं बालहिं रक्खिय सालिखेत्त मोहेविणु गीयएं हरिणखंत ।
जहिं दक्खइं भुंजिवि दुहु मुयंति थल कमलहिं पंथिय सुहु सुयंति ॥
जहिं सारणिसलिलि सरोयपंति अइरेहइ मेइणि णं हसंति ॥[21]

दिव्यदृष्टि धाहिल ने पउमसिरीचरिउ में मध्य देश का अलंकृत भाषा में वर्णन करते हुए लिखा है –

इह भरहि अत्थि उज्जल सुवेसु सुपसिद्धउ नामिं मज्झदेसु ।
तहिं तिन्नि वि हरि-कमलाउलाइँ कंतार-सरोवर राउलाइँ ॥
धम्मासत्त नरेसर मुणिवर स हु सुयसालि लोग गुणि दियवर ।
गामागर पुर नियर मणोहर विउल नीर गंभीर सरोवर ॥
उदलिय कमल संड उब्भासिय केयइ कुसुम गंध परिवासिय ।
वहुविह जण धण धन्न खाउलु गो महिस उल खाउल गोउलु ॥
भूसिउ धवल तुंग वरभवणेहि संकुल गाम सीम उच्छरणेहि ।
कोमल केलि भवण कय सोहिहि फलभर नामिय तुंग दुमोहिहि ॥

फोप्फल नागवेल्लि दल थामेहि मंडिउ गामुज्जाणारामेहि ।
कयवर चक्कमालि कुसुमालिहि वज्जिउ इराउल दुक्कालिहि ॥
पंथियजण विइन्न वरभोयणु विविहूसव आणंदिय जण मणु ।
कइवर नड नट्टिहि चारण वंदिहि नच्चिउ सुपुरिसहँ चरिउ ।
वर गेय रवाउलु रहस सुराउलु महिहिँ सग्गु नं अवयरिउ ॥[22]

इस वर्णन में कवि की दृष्टि मध्यप्रदेश के कांतार, सरोवर और राजकुलों के साथ-साथ वहाँ के ग्रामों पर भी गयी, गो-महिष-कुल के रम्य शब्द, ग्राम-सीमावर्त्ती इक्षु-वन, ग्रामोद्यान आदि भी उसकी दृष्टि से ओझल नहीं हुए। वर्णन करते हुए मध्यदेश में सुपारी और नागवेल (पान) का भी उल्लेख किया है। वर्णन की समाप्ति में कवि कहता है कि मध्यदेश ऐसा प्रतीत होता था मानो पृथ्वी पर स्वर्ग अवतीर्ण हुआ हो। इसी प्रकार कवि का वसंतपुर[23] वर्णन भी रमणीय बन पड़ा है। कवि के वस्तु-वस्तुत में वस्तु-वर्णन शैली मिलती है।

पासणाहचरिउ में श्रीधर कवि ने दिल्ली नगर का वर्णन भी अलंकृत शैली में किया है। वहाँ की ऊँची-ऊँची शालाओं, विशाल रणमंडपों, सुन्दर मंदिरों, समद गज घटाओं, गतिशील तुरंगों, स्त्रियों की पद नूपुर-ध्वनि को सुनकर नाचते हुए मयूरों और विशाल हट्ट-मार्गों का चित्रण किया गया है -

जहिं गयणामंडला लग्गु सालु, रण मंडव परिमंडिउ विसालु ।
गोउर सिरि कलसा हय पयंगु, जल पूरिय परिहा लिंगि यंगु ॥
जहि जण मण णयणाणंदिराइं, मणियर गण मंडिय मंदिराइं ।
जहिं चउदिसु सोहहिं घणवणाइं, णायरणर खयर सुहावणाइं ॥
जहिं समय करडि घड-घड हडंति, पडिसद्दें दिसि विदिसि विफुडंति ।
जहिं पवण गमण धाविर तुरंग, णं वारि रासि भंगुर तरंग ॥
पविउलु अणंग सरु जहिं विहाइ रयणायरु सइं अवयरिउ णाइं ।
जहिं तिय पयणेउर रउ सुणेवि, हरिसें सिहि णच्चइ तणु धुणेवि ॥
जहि मणुहरु रेहइ हट्ट मग्गु, णीसेस वत्थु संवियस मग्गु ।
कातंतं पिव पंजी समिद्धु, णव कामि जोव्वण मिव समिद्धु ॥
सुर रमणि यणु व वरणेत्तवत्तु, पेक्खणयर मिव वहु वेस वंतु ।
वायरणु व साहिय वर सुवण्णु, णाडय पक्खणयं पिव सपण्णु ॥
चक्कवइ व वरहा अप्फलिल्लु, संच्चुण्ण णाइं सद्दंसणिल्लु ।
दप्पुब्भड भड तोणु व कणिल्लु, सविणय सीसु व वहु गोर सिल्लु ॥
पारावारु व वित्थरिय संखु, तिहुअण वइ गुण णियरु व असंखु ॥
णयण मिव सतारउ, सरुव सहारउ, पउर माणु कामिणि यणु व ।
संगरु व सणायउ, णहु व सरायउ, णिहय कंसु णारायणु व ॥[24]

इसी प्रकार श्रीधर-रचित भविसयत्तचरिउ में हस्तिनापुर[25]-वर्णन, सिंह-विरचित पज्जुण्णचरिउ में सौराष्ट्रदेश[26]-वर्णन, धनपाल-लिखित बाहुबलिचरित[27] में राजगृह-वर्णन और अद्दहमाण-विरचित संदेश-रासक[28] में सामोरु नगर, उद्यानों और वहाँ की वारवनिताओं का

वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त पउमचरिउ में स्वयंभू-वर्णित जलक्रीड़ा-वर्णन[29], णायकुमारचरिउ में पुष्पदन्त-लिखित जलक्रीड़ा-वर्णन[30], जसहरचरिउ में क्रीड़ोद्यान-वर्णन[31] और वीर कवि-रचित जंबुसामिचरिउ में उद्यान-वर्णन[32], पासचरिउ में जलक्रीड़ा[33] आदि का वर्णन बड़ी स्वाभाविकता के साथ किया गया है।

इसी प्रकार विद्यापति ने कीर्तिलता में जौनपुर का सार्वभौम वर्णन करते हुए लिखा है – उस नगर के सौन्दर्य को देखते हुए, सैकड़ों बाजार-रास्तों से गुजरते, उपनगर तिराहों और चौराहों में घूमते गोपुर (द्वार), वक्रहटी (सराफाहाट), मंडपों, गलियों, अट्टालिकाओं, एकान्त गृहों, रहट, घाट, कपिशीर्ष (किलों के ऊपर के गुंबज), प्राकार, पुर-विन्यास आदि का क्या वर्णन करूँ, मानो दूसरी अमरावती का अवतार हुआ है –

अवरु पुनु ताहि नगरन्हि करो परिठव ठवन्ते शतसंख्य ।
हाट बाट गमन्ते शाखानगर शृंगाटक आक्रीडन्ते, गोपुर ॥
वकहटी, वलभी, वीथी, अटारी, ओवरी रहट घाट ।
कौसीस प्राकार पुरविन्यास कथा कहञो का जनि ॥
दोसरी अमरावती क अवतार भा ॥[34]

बाज़ार की गतिविधियों का वर्णन करता हुआ कवि आगे कहता है कि हाट में प्रथम प्रवेश करने पर, अष्टधातु से (बर्तन) गढ़ने की टंकार तथा बर्तन बेचनेवाले कसेरों की दूकानों पर बर्तनों की क्रेंकार ध्वनि हो रही थी। खरीद-फरोख्त के लिए एकत्र लोगों के आने-जाने से क्षुब्ध धनहटा, सोनहटा, पनहटा (पान-दरीबा), पक्वानहाट, मछहटा के आनंद-कलरव की यदि कथा कहूँ तो झूठ होगा, लगता है जैसे मर्यादा छोड़कर समुद्र उठ पड़ा है और उसका गंभीर गुरग्गुरावर्त्त कल्लोल कोलाहल कानों में भर रहा है –

अवि अवि अ, हाट करेओ प्रथम प्रवेश अष्टधातु ।
घटना टंकार, कसेरी पसरा कांस्य क्रेंकार ॥
प्रचुर पौरजन पद संभार संभिन्न, धनहटा, सोनहटा ।
पनहटा, पक्वानहटा, मछहटा करेओ सुख रव कथा ॥
कहन्ते होइअ झूठ, जनि गंभीर गुर्गुरावर्त्त कल्लोल कोलाहल ।
कान भरन्ते मर्यादा छाँड़ि महार्णव ऊँठ ॥[35]

विद्यापति ने जौनपुर के विभिन्न बाज़ारों का वर्णन किया है। उनमें निरन्तर उठनेवाली खास प्रकार की आवाज़ों को विशेषरूप से चित्रित किया है। बाज़ार में और नगर में होनेवाली भीड़ का वर्णन करते हुए यह बताया है कि इस भीड़ में एक साथ ब्राह्मण-चाण्डाल, वेश्या-यती आदि का स्पर्श होता है। उनके मन में होनेवाली प्रतिक्रियाओं का भी कवि ने बड़ा सरस वर्णन किया है –

मध्यान्हे करी बेला संमद्द साज, सकल पृथ्वीचक्र ।
करेओ वस्तु विकाइबा काज। मानुस क मीसि पीस ॥
बर आँगे आँग, ऊंगर आनक तिलक आनकाँ लाग ।
यात्राहुतह परस्त्रीक वलया भाँग। ब्राह्मण क यज्ञोपवीत ॥

चाण्डाल के आँग लूर, वेश्यान्हि करो पयोधर।
जती के हृदय चूर। घने सञ्चर घोल हाथिं, बहुत॥
वापुर चूरि जाथि। आवर्त विवर्त रोलहों नअर नहि नर समुद्र ओ॥[36]

नगरों में पत्थरों का फर्श बनाया जाता था। ऊपर गिरे पानी को दीवालों के भीतर से क्रमबद्ध बाहर गिराने की प्रणाली की तरफ भी विद्यापति ने ध्यान दिया था। इसी वर्णन-क्रम में कवि ने संक्षेप में उपवन का भी वर्णन किया है -

पेष्खिअउ पट्टन चारु मेखल जञोन नीर पखारिआ।
पासान कुट्टिम भीति भीतर चूह ऊपर ढारिआ॥
पल्लविअ कुसुमिअ फलिअ उपवन चूअ चम्पक सोहिआ।
मअरन्द पाण विमुद्ध महुअर सद्द मानस मोहिआ॥
वकवार साकम बाँध पोखरि नीक नीक निकेतना।
अति बहुत भाँति विवट्टबट्टहिं भुलेओ वड्डेओ चेतना॥
सोपान तोरण यंत्र जोरण जाल गाओष खंडिया।
धअ धवल हर घर सहस पेष्खिअ कनक कलसहि मंडिआ॥
थल कमल पत्त पमान नेत्तहि मत्तकुंजर गामिनी।
चौहट्ट वट्ट पलट्ठि हेरहिं सथ्थ सथ्थहिं कामिनी॥
कप्पूर कुंकुम गंध चामर नअन कज्जल अंबरा।
बेवहार मुल्लहि वणिक विक्कण कीनि आनहिं वब्बरा॥
सम्मान दान विवाह उच्छव मीअ नाटक कव्वहीं।
आतिथ्य विनय विवेक कौतुक समय पेल्लिअ सव्वहीं॥[37]

विद्यापति द्वारा वर्णित नगर-योजना से तत्कालीन समाज-व्यवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है। उस नगर में जहाँ रूपवती, युवती और चतुर वनियाइनें सैकड़ों सखियों के साथ गलियों को मंडित करती बैठी थीं वहीं पर बहुत से ब्राह्मण, कायस्थ, राजपूत आदि जातियों के लोग मिले-जुले बैठे हुए थे, सभी सज्जन, सभी धनवान -

वहुल वंभण वहुल काअथ।
राजपुत्र कुल वहुल, वहुल जाति मिलि वइस चप्परि॥
सबे सुअन सबे सधन, णअर राअ सबे नअर उप्परि।
जं सबे मंदिर देहली धनि पेष्खिअ सानन्द॥
तसु केरा मुख मण्डलहिं घरे-घरे उग्गिह चन्द॥[38]

मैथिल कवि विद्यापति का वेश्या-वर्णन बहुत ही सरस एवं विस्तृत है। उन हाटों में एक हाट सबसे सुन्दर था और यह हाट वेश्या हाट था। इस वेश्या हाट का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है - राजमार्ग के पास से चलने पर अनेक वेश्याओं के निवास दिखलायी पड़ते थे, जिनके निर्माण में विश्वकर्मा को भी बड़ा परिश्रम करना पड़ा होगा। ..... उनके केश को धूपित करने-वाले अगरु के धुएँ की रेखा ध्रुवतारा से भी ऊपर जाती है। कोई-कोई यह भी शंका करते हैं कि उनके काजर से चाँद कलंकित लगता है। उनकी लज्जा कृत्रिम होती है, तारुण्य भ्रमपूर्ण। धन के लिए प्रेम करतीं, लोभ से विनय और सौभाग्य की कामना करतीं बिना स्वामी के ही सिन्दूर

डालतीं, इनका परिचय कितना अपवित्र है। जहाँ गुणी लोगों को कुछ प्राप्त नहीं होता, वेश्यागामी भुजंगों को गौरव मिलता है। वेश्या के मन्दिर में निश्चय ही धूर्त लोगों के रूप में काम निवास करता है –

एक हाट करेओ ओर औका हाट के कोर। राजपथ क ।
सन्निधान सञ्चरन्ते अनेक देणिअ वेश्यान्हि करो निवास ।।
जन्हि के निर्माणे विश्वकर्महु भेल वड प्रयास ।
अवरु वैचित्री कहओ का, जन्हि के केस धूप-धूप करी रेखा ।।
धुवहु उंघर जा। काहु-काहु अइसनो सङ्क, ओकरा काजर ।
चाँद कलंक। लज्ज कित्तिम, कपट तारुन्न। धन निमित्ते ।।
धरु पेम; लोभे विनअ सौ भागे कामन। विनु स्वामी ।
सिन्दुर परा परिचय अपामन ।।
जं गुणमन्ता अलहना गौरव लहइ भुवंग ।
वेसा मंदिर धुअ बसइ धुत्तइ रूप अनंग ।।[39]

इसी प्रकार का वेश्या-वर्णन जंबुसामिचरिउ में भी पाया जाता है। कवि शिष्ट शैली में वेश्या-वर्णन प्रस्तुत करता है – जहाँ विभूषित रूपवती वेश्या रूप्यकरहित मनुष्य को विरूप मानती है। क्षणभर देखा हुआ पुरुष यदि धनी है तो प्रिय सिद्ध होता है और निर्धन प्रणयी ऐसा माना जाता है जैसा जन्म से भी कभी नहीं देखा। वह वेश्या कुलहीन होती है और भुजंगों – विटों के दंत और नखों से विद्ध होती है। काम को उद्दीप्त करनेवाली होती है और स्नेह से शून्य होती है। अनुरक्त कामुकों के आकर्षण में दक्ष होती है। जिसका नितम्ब मेरु पर्वत की भूमि के समान होता है, मध्यभाग – किंपुरुषादि देव योनियों से या कुत्सित पुरुषों से सेवित होता है। वह नरपति की नीति के समान अनर्थ संयोग को दूर से ही छोड़ देती है। जिसके अधर में अनुराग होने पर पुरुष विशेष के संग में प्रवृत्त नहीं होती –

वेसउ जत्थ विहूसिय रूवउ, नरु मण्णंति विरूउ विरूवउ ।
खण दिट्ठो वि पुरि सु पिउ, सिद्धउ पणयारूढु न जन्म वि दिद्ठउ ।।
णउलब्भवउ ताउंकिर मणियउ, तो वि भुयंग दंत नहि वणियउ ।
वम्महं दीवियाउ अविभयत्तउ, तो वि सिणेह संग परिचत्तउ ।।
लग्गिर सायणि सत्थ सरिच्छउ, कामुअ रत्ता करिसण दच्छउ ।
मेरु महीहर महि पडिविंवउ, सेविय बहु किं पुरिस नियंवउ ।।
नरवइ णीइ समाण विहोयउ, दूरुज्झिय अणत्थ संजोयउ ।
अहरे राउ पमाणु वि जहुं वट्टइ, पुरिस विसेस संगि न पयट्टइ ।।[40]

ये वेश्याएं श्रृंगार करती हैं। मुख को चन्दन आदि के लेप से मण्डन करती हैं। अलकों में तथा कपोल-स्तनादि पर कुंकम-चन्दनादि से पत्रावली बनाती हैं। दिव्य वस्त्र धारण करतीं, उभार-उभार कर केश-पाश बाँधती, दूतियों को प्रेरित करतीं कि वे नायक के पास जायें। हँसकर देखतीं। तब उन सयानी, लावण्यमयी, पतली, कृशोदरी, तरुणी, चंचला, चतुरा, परिहास-प्रगल्भा, सुन्दरी नायिकाओं को देखकर इच्छा होती है कि तीसरे पुरुषार्थ (काम) के लिए अन्य तीनों छोड़ दिये जायें –

तान्हि वेश्यान्हि करो मुख सार मंडन्ते अलक तिलका पत्रावली खंडन्ते ।
दिव्याम्बर पिन्धन्ते, उभारि-उभारि केशपाश बंधन्ते सखि जन ॥
प्रेरन्ते, हँसि हेरन्ते। सआनी, लानुमी, पातरी, पतोहरी, तरुणी ।
तरट्टी, वन्ही, विअप्खणी परिहास पेषणी, सुन्दरी सार्थ ॥
जवे देखिअ, तवे मन करे तेसरा लागि तीनू उपेष्खिअ ॥[41]

अपभ्रंश साहित्य में वेश्या हाट के साथ ही तुर्क सौदागरों और खरीद-फरोख्त करनेवाले गुलामों आदि का भी सुन्दर वर्णन मिलता है। कीर्तिलता में अश्व-वर्णन में घोड़ों की जाति, शरीर-गठन, साज-सामान तथा उनकी विविध प्रकार की चालों का विशद वर्णन है -

कटक चांगरे चांगु। वांकुले वांकुले वअने ।
काचले-काचले नअने। अँटले-अँटले बाधा, तीखे तरले ॥
कांधा। जाहि करो पीढि आपु करो अहंकार सारिअ ।
पर्वत ओलाँघि पार क मारिअ। अखिल सेन्नि सत्तु करी ॥
कीर्तिकल्लोलिनी लाँघि भेलि पार, ताहि करो जल सम्पर्के चारहु पाञे ।
तोषार सुरली मुरुली कंडली, मुंडली प्रभृति नाना गति ॥
करन्ते भास कस, जनि पाय तल पवन देवता वस। पद्म करे ।
आकारे मुँह पाट जनि स्वामी करो यशश्चन्दन तिलक ललाट ॥[42]

विद्यापति ने अश्व सेना के साथ-साथ हस्ति सेना का भी बड़ा सुन्दर वर्णन किया है -

अणवरत हाथि मयमत्त जाथि ।
भागन्ते गाछ चापन्ते काछ ॥
तोरन्ते बोल मारन्ते घोल ।
संग्राम थेघ भूमट्टि मेघ ॥
अन्धार कूट दिग्विजय छूट ।
ससरीर गव्व देखन्ते भव्व ॥
चालन्ते काण पवव्वअ समाण ॥[43]

सेना के चलने का भी पारंपरिक वर्णन मिलता है। सूर्य ने अपना प्रकाश संवृत कर लिया। आठों दिग्पालों को कष्ट हुआ। धरती पर धूल से अंधकार छा गया। प्रेयसी ने प्रिय को देखा कि सूर्य इस समय चन्द्रमा के समान कोमल-मंद कैसे लग रहा है ! जंगल, दुर्ग को दल ने तहस-नहस कर दिया तथा पद-भार से पृथ्वी को खोद दिया। हरि और शंकर का शरीर एक में मिल गया। ब्रह्मा का हृदय डर से डगमगा गया -

जाषणे चलिअन सुरतान लेख परिसेष जान को ।
धरणि तेज सम्बरिअ अट्ठ दिगपाल कट्ठ हो ॥
धरणि धूल अन्धार, छोड्डु पेअसि पिअ हेरब ।
इन्द चन्द आभास कवन परि रहु समय पेल्लब ॥
कन्तार दुग्ग दल दमसि कहुँ खोणि खुन्द पअ भार भरे ।
हरिशंकर तनु एक्क रहु वम्भ हीअ डगमगिअ डरे ॥[44]

युद्ध-यात्रा के समय या युद्ध-भूमि में बजाये जानेवाले रणवाद्य का भी वर्णन अपभ्रंश साहित्य में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। तत्कालीन बाजों में भेरी, मृदंग, पटह, तूर्य, नीसान, काहल, ढोल, तबल, रणतूरा आदि का उल्लेख पाया जाता है -

पैरि तुरंगम भेलिपार गण्डक का पाणी ।
पर वल भंजन गरुअ महमद्द मगानी ॥
अह असलाने फौदे-फौदे निजसेना सज्जिय ।
भेरी काहल ढोल तवल रण तूरा वज्जिय ॥[45]

उपर्युक्त विवेचन एवं विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश के कवि जागरूक एवं सूक्ष्म-द्रष्टा थे। वे जहाँ भारतीय वस्तु-वर्णन की शैली को पूर्णतः हृदयंगम किये थे, वहीं पर तुर्की जीवन-प्रणाली एवं वस्तु-वर्णन से भी परिचित थे। वे राजदरबारों की पद्धति, भवन-निर्माण कला, उद्यान, युद्ध, अस्त्र-शस्त्र आदि से पूर्णतः परिचित थे। अपभ्रंश साहित्य में जहाँ शृंगार के विविध रूपों का सूक्ष्म और मंजुल-मनोहर चित्रण मिलता है, वहीं प्रशस्ति-काव्यों का चमत्कारपूर्ण, टंकारभरी ओजस्वी चित्र भी देखने को मिलता है। इन्हीं कारणों से अपभ्रंश-साहित्य को मध्यकालीन भारतीय जीवन का सांस्कृतिक दर्पण कहा जाता है।

---

1. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा ।
   संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥
   - काव्यालंकार - 1.16, 28
2. आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः ।
   शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥
   - काव्यादर्श - 1.36
3. अपभ्रंश साहित्य, डॉ. हरिवंश कोछड़, पृ. 3।
4. ता किं अवहंसं होहिइ ? हूँ ! तं पि णो जेण तं सक्कयपाय-उभय सुद्धासुद्ध पयसम तरंग रंगंत वग्गिरं णव पाउस जलय पवाह पूरपव्वालिय गिरिणइ सरिसं सम विसमं पणय कुविय पियपणइणी समुल्लाव सरिसं मणोहरं।
   - अपभ्रंश काव्यत्रयी, सं. लालचन्द भगवानदास गाँधी, पृ. 97-98।
5. सवक्कउ पायउ पुण अवहंसउ वित्तउ उप्पाइउ सपसंसउ।
   - महापुराण, सं. पी. एल. वैद्य, 5.18.6।
6. अपभ्रंश साहित्य, डॉ. हरिवंश कोछड़, पृ. 5।
7. वही, पृ. 6।
8. काव्यमीमांसा, राजशेखर, गायकवाड़ आरिएण्टल सिरीज, संख्या 1, अध्याय-13।
9. कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, पृ. 212।
10. सम आस्पेक्ट्स ऑव रिलिजन एण्ड सोसाइटी इन इण्डिया ड्यूरिंग द थर्टिएथ सैंचुरी, डॉ. ख़लीक अहमद निज़ामी, पृ. 85।

11. कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, पृ. 213।
12. वही, पृ. 274।
13. महापुराण, सं. डॉ. पी. एल. वैद्य, 1.12।
14. वही, 1.15।
15. वही, 92.2. 11-12।
16. अपभ्रंश साहित्य, डॉ. हरिवंश कोछड़, पृ. 105।
17. वही, पृ. 124।
18. जसहरचरिउ, पुष्पदन्त, सं. डॉ. परशुराम लक्ष्मण वैद्य, 1.3. 1-14।
19. रायउरु मणोहर रयणंचिय घरु तहिं पुरवरु पवणुद्धयहिं ।
चलचिंधहि मिलियहिं णहयलि घुलियहिं छिवइ व सग्गु सयंभु अहिं ॥
जं छण्णउं सरसहिं उववणेहिं णं विद्धउं वम्मह मग्गणेहिं ।
कयसद्दहिं कण्णसुहावएहिं कणइ व सुरहर पारावएहिं ॥
गय वर दाणोल्लिय वाहियालि जहिं सोहइ चिरु पवसिय पियालि ।
सरहंसइं जहिं णेउर रवेण गउ चिक्कमंति जुवई पहेण ॥
जं णिव भुयासि वर णिम्मलेण अण्णु वि दुग्गउ परिहा जलेण ।
पडिखलिय वइरि तोमर झसेण पंडुर पायारिं णं जसेण ॥
णं वेढिउ वहुसोभग्ग भारु णं पुँजीकय संसार सारु ।
जहिं विलुलिय मरगय तोरणाइं चउदारइं णं पउराणणाइं ॥
जहिं धवल मंगलुच्छवसराइं दुति पंचसत्त भोमइं घराइं ।
णव कुंकुम रस छडयारुणाइं विक्खित्त दित्त मोत्तिय कणाइं ॥
गुरु देव पाय पंकय वसाइं जहिं सव्वइं दिव्वइं माणुसाइं ।
सिरिमंतइं संतइं सुत्थियाइं जहिं कहिं पि ण दीसहि दुत्थियाइं ॥
– जसहरचरिउ, पुष्पदन्त, सं. परशुराम लक्ष्मण वैद्य, पृ. 4-5।
20. वही, पृ. 16-17।
21. करकंडचरिउ, मुनि कनकामर, सं. प्रो. हीरालाल जैन, 1.3, 4-10।
22. पउमसिरीचरिउ, दिव्यदृष्टि धाहिल, सं. मधुसूदन मोदी तथा हरिवल्लभ भायाणी 1.2।
23. वही, 1.3।
24. अपभ्रंश साहित्य, हरिवंश कोछड़, पृ. 212।
25. वही, पृ. 215-216।
26. वही, पृ. 222-223।
27. वही, पृ. 238।
28. संदेश रासक, अद्दहमाण, सं. आ. हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 155-157।

29. अपभ्रंश साहित्य, हरिवंश कोछड़, पृ. 57-58।
30. णायकुमारचरिउ, पुष्पदंत, सं. हीरालाल जैन।
31. जसहरचरिउ, पुष्पदंत, सं. डॉ. परशुराम लक्ष्मण वैद्य, 1.12.1-16।
32. अपभ्रंश साहित्य, हरिवंश कोछड़, पृ. 155।
33. वही, पृ. 208-209।
34. कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, पृ. 253।
35. वही, पृ. 253-254।
36. वही, पृ. 255।
37. वही, पृ. 251।
38. वही, पृ. 256।
39. वही, पृ. 258।
40. अपभ्रंश साहित्य, डॉ. हरिवंश कोछड़, पृ. 152-153।
41. कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, पृ. 260।
42. वही, पृ. 315।
43. वही, पृ. 311।
44. वही, पृ. 225।
45. वही, पृ. 330।

व्याख्याता
हिन्दी विभाग
रामनिरंजन झुनझुनवाला कॉलेज
घाटकोपर (प.)
बम्बई-400 086

पर अत्थमिउ

मित्तविओएँ णलिणि महासइ, कण्णिय चूडुल्लउ ण पयासइ ।
अइसोएँ ललियंगइँ सिढिलइ अलिणयणउ पंकयमुहु मइलइ ।
तद्दुहेण दुहियाइँ व चक्कइँ, इत्थियसंगु विवज्जिवि थक्कइँ ।
अज्ज वि सो तहेव कमु चालइ, इय पडिवण्णउ विरलउ पालइ ।
कुमुअसंड दुज्जणसमदरिसिअ, मित्तविणासणेण जैं वियसिय ।
ण्हाइवि लोयायारैं सुइहर, संझावंदणकज्जैं दियवर ।
सूरहों देहिँ जलंजलि णावइ, पर अत्थमिउ ण तं फुडु पावइ ।
णिसिवेल्लिए णह मंडउ छाइउ, जलहरमालएँ णाइँ विराइउ ।

घत्ता - **तो सोहइ उग्गमिउ णहेँ ससिअद्धउ विमलपहालउ ।**
णावइ लोयहँ दरिसियउ णहसिरिएँ फलिहकच्चोलउ ॥

– सुदंसणचरिउ, 8.17

– मित्र (सूर्य) के वियोग में मुरझाई हुई नलिनी के पुष्प-कोष का विकास उसी प्रकार नहीं हुआ जिस प्रकार अपने मित्र (प्रियतम) के वियोग में एक महासती लज्जित होकर अपना चूड़ाबंध प्रकट नहीं करती। वह अत्यन्त शोक से अपने ललित अंगों को शिथिल और भ्रमररूपी नयनों से युक्त पंकजरूपी मुख को मलिन कर रही थी। उसी के दुःख से दुखित होकर मानों चकवे अपनी चकवियों का संग छोड़कर रह रहे थे। आज भी चकवा उसी क्रम को चला रहा है। इस प्रकार अपनी स्वीकृत बात को कोई विरला ही पालन करता है। कुमुदों के समूह दुर्जनों के समान दिखायी दिये, चूँकि वे मित्र (सूर्य या सुहृद) का विनाश होने पर भी विकसित हुए।

स्नान करके श्रुतिधर, लोकाचार से तथा द्विजवर (श्रेष्ठ ब्राह्मण) सन्ध्या-वन्दन हेतु सूर्य को मानों जलाञ्जलि देने लगे। किन्तु अस्त हो जाने के कारण स्पष्टतः वह उसे पा तो नहीं रहा था। रात्रि का समय हो जाने से नभोमण्डल (अंधकार से) आच्छादित हो गया, मानों वह मेघमालाओं से विराजित हो गया हो। उस समय आकाश में अपनी विमल प्रभा से युक्त अर्द्धचन्द्र उदित होकर ऐसा शोभायमान हुआ मानों नभश्री ने लोगों को अपना स्फटिक का कटोरा दिखलाया हो।

अनु. – **डॉ. हीरालाल जैन**

संत साहित्य और जैन अपभ्रंश काव्य

– डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी

■

मध्यकालीन हिन्दी निर्गुण साहित्य के लिए अब 'संत साहित्य' शब्द रूढ़ हो गया है। मध्यकालीन समस्त भारतीय साधनाएँ आगम-प्रभावित हैं, संत साहित्य भी। संत साहित्य को प्रभावित कहने की अपेक्षा मैं तो यह कहना चाहता हूँ कि वह 'आगमिक दृष्टि' का ही लोक-भाषा में सहज प्रस्फुरण है। अतः 'प्रभावित' की जगह उसे 'आगमिक' ही कहना संगत है। 'आगमिक दृष्टि' को यद्यपि आर. डी. रानाडे ने अपने 'Mystitism in Maharastia' में वैदिक सिद्धान्त का साधनात्मक अविच्छेद्य पार्श्व बताया है। इस प्रकार वे आगम को यद्यपि नैगमिक कहना चाहते हैं पर इससे आगम के व्यक्तित्व का विलोप नहीं होता। प्राचीन आर्य ऋषियों की एक दृष्टि का जैसा विकास और परिष्कार आगमों में मिलता है वैसा नैगमिक 'दर्शनों' में नहीं। इसलिए मैं जिसे 'आगमिक दृष्टि' कहना चाहता हूँ उसका संकेत भले ही वैदिक वाङ्मय में हो पर उसका स्वतंत्र विकास और प्रतिष्ठा आगमों में हुई – यह विशेषरूप से ध्यान में रखने की बात है।

'आगम' यद्यपि भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रचलित और प्ररूढ़ शब्द है तथापि यहाँ एक विशेष अर्थ में वांछित है और वह अर्थ है – द्वयात्मक अद्वय तत्त्व की पारमार्थिक स्थिति। द्वय हैं – शक्ति और शिव। विश्वनिर्माण के लिए स्पन्दनात्मक शक्ति की अपेक्षा है और विश्वातीत स्थिति के लिए निष्पंद शिव। स्पंद और निष्पंद की बात विश्वात्मक और विश्वातीत दृष्टियों से की जा रही है, दृष्टि-निरपेक्ष होकर उसे कोई संज्ञा नहीं दी जा सकती। तब वह विश्वातीत तो है ही, विश्वात्मक परिणति की संभावना से संज्ञातीत होने के कारण विश्वात्मक भी। वैज्ञानिक भाषा

में इन्हें ही ऋणात्मक तथा घनात्मक तत्त्व कह सकते हैं। विशेषता इतनी ही है कि 'आगम' में इन्हें चिन्मय कहा गया है। नैगमिक दर्शनों (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, पांतजल, पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा) में कोई भी 'शक्ति' की 'चिन्मयरूप' में कल्पना नहीं करता। कुछ तो ऐसे हैं जो 'शक्ति' तत्त्व ही नहीं मानते, कुछ मानते भी हैं तो जड़। आगम (अद्वयवादी) 'शक्ति' को 'चिन्तक' कहते हैं और 'शिव' की अभिन्न क्षमता के रूप में स्वीकार करते हैं। अद्वयस्थ वही द्वयात्मकता आत्म-लीला के निमित्त विधा-विभक्त होकर परस्पर व्यवहित हो जाती है – पृथक् हो जाती है। इस व्यवधान अथवा पार्थक्य के कारण समस्त सृष्टि अस्थिर, बेचैन, गतिमय तथा खिन्न है। इस स्थिति से उबरने के लिए इस व्यवधान को समाप्त करना पड़ता है, शक्ति से शिव का मिलन या सामरस्य अपेक्षित होता है।

निर्गुनिए संत पहले साधक हैं, इसके बाद और कुछ और इनकी साधना है – सुरत शब्द योग। यह सुरत या सुरति और कुछ नहीं, उक्त 'शक्ति' ही है जो आदिम मिलन या पुगनद्वावस्था को स्त्रलात्मक बीजरूप में सभी बद्धात्माओं में पड़ी हुई है। प्रत्येक व्यक्ति में यही प्रसुप्त चिन्मयी शक्ति 'कुण्डलिनी' कही जाती है। अथर्ववेद में यही 'उच्छिष्ट' है, पुराणों में यही 'शेषनाग' है। स्थूलतम धार्मिकात्मक परिणति के बाद कुण्डलित 'शक्ति' विश्व और व्यष्टि उभयत्र मूलाधार में स्थित है।

कह भीखा सब मौज साहब की
मौजी आयु कहावत।

भीखा साहब आगमिकों की शक्तिमान (शिव) और शक्ति की भाँति मौजी और मौज की बात करते हैं। एक अन्य संत ने शिव तथा मौज को स्पष्ट ही शक्ति कहा है –

सुरति सुहागिनी उलटि कै मिली सबद में जाय।
मिली सबद में जाय कन्त को वस में कीन्हा।
चलै न सिव कै जोर जाय जब सक्ती लीन्हा।
फिर सक्ती भी ना रहै, सक्ति से सीव कहाई।
अपने मन कै फेर और ना दूजा कोई।
सक्ती शिव है एक नाम कहवे को दोई।
पलटू सक्ती सीव का भेद कहा अलगाय।
सुरति सुहागिनि उलटि कै मिली सबद में जाय।

पलटूदास की इन पंक्तियों के साक्ष्य पर उक्त स्थापना कि आगमिक दृष्टि ही संतों की दृष्टि है – सिद्ध हो जाती है।

आगम की भाँति संतजन भी वहिर्याग की अपेक्षा अंतर्याग की ही महत्ता स्वीकार करते हैं और इस अंतर्याग की कार्यान्विति गुरु के निर्देश में ही संभव है। आगमों की भाँति संतजन मानते हैं कि गुरु की उपलब्धि पारमेश्वर अनुग्रह से ही संभव है। यह गुप्त ही है जिसकी उपलब्धि होने पर 'साधना' (अंतर्याग) संभव है। यह तो ऊपर कहा ही जा चुका है कि द्वयात्मक अद्वय सत्ता विश्वात्मक भी है और विश्वातीत भी। विश्वात्मक रूप में उसके अवरोहण की एक विशिष्ट प्रक्रिया है और उसी प्रकार आरोहण की भी। विचारपक्ष से जहाँ आगमों ने द्वयात्मक अद्वय तत्त्व

की बात की है वहीं आचारपक्ष से वासना (काषाय)-दमन की जगह वासना-शोधन की बात भी। संतजन विचार और आचार-दोनों पक्षों में 'आगम-धारा' को मानते हैं। मौजी और मौज सुरत और शब्द के 'योग' अथवा 'सामरस्य' में जहाँ संतजन 'द्वयात्मक अद्वय' को स्वीकार करते हैं वहाँ 'काम मिलावे राम को' द्वारा प्रेम की महत्ता का ज्ञान करते हुए तन्मय परमात्मा की उपलब्धि में वासना के शोधक और चिन्मयीकरण की भी स्थिति स्वीकार करते हैं। आगम-सम्मत संत-परम्परा से जैन धारा का एक तीसरा अन्तर यह भी है कि वह जहाँ अद्वयवादी है वहीं भेदवादी भी। वह न केवल अनेक आत्मा की ही बात करता है अपितु संसार को भी अनादि और शाश्वत सत्य मानता है। इस प्रकार ऐसे अनेक भेदक तत्त्व उभरकर सामने आते हैं जिनके कारण 'संत साहित्य' के संदर्भ में जैन साहित्य को देखना असंभव लगता है। जैनधारा कृच्छ एवं अछेदवादी होने से शरीर एवं संसार के प्रति विरक्त दृष्टि रखती है। यही कारण है कि जैन साहित्य में यही निर्वेदभाव पुष्ट होकर शांत रस के रूप में लहराता हुआ दृष्टिगोचर होता है। शृंगार का चित्रण सर्वदा उनकी कृतियों में विरसावसानी और वैराग्यपोषक रूप में हुआ है। जैन काव्य का प्रत्येक नायक निर्वेद के द्वारा अपनी हर रंगीन और सांसारिक मादक शक्ति का पर्यवसान 'शांत' में ही करता है।

पर इन तमाम भेदक तत्त्वों के बावजूद छठी-सातवीं शती के तांत्रिक मत के प्रभाव-प्रसार ने जैन मुनियों पर भी प्रभाव डाला। फलत: कतिपय अपभ्रंशबद्ध रचनाओं में 'संत' का-सा स्वर श्रुतिगोचर होता है। चरमलक्ष्य से विच्छिन्न फलत: विजड़ित एवं रूढ़ प्राय: आचार-बाहुल्य के प्रति एक तीखी प्रतिक्रिया और अंतर्याग के प्रति लगाव का संत-संवादी विद्रोही स्वर कतिपय रचनाओं में विद्यमान है। पाहुडदोहा, योगसार, परमात्मप्रकाश, वैराग्यसार, आणंदा, सावयधम्म दोहा आदि रचनाएं ऐसी ही हैं। इनमें संत-संवादी मन:स्थिति का प्रभाव या प्रतिबिंब स्पष्ट दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार अन्य रहस्यवादी रचयिताओं ने क्रमागत रूढ़ियों एवं वाह्याचारों का खण्डन करते हुए पारमार्थिक तत्त्वों की उपलब्धि के अनुरूप पलों और दिशाओं को महत्त्व दिया है – यही स्थिति इन जैन मुनियों की भी है। लगता है कि इस अवधि में आचार या साधन को ही साध्यता की कोटि प्राप्त होती जा रही थी, फलत: कट्टर साम्प्रदायिक लकीरों और रेखाओं के प्रति इनके मन में भी उग्र आक्रोश था और उस झुँझलाहट को वे उसी उग्र स्वर में व्यक्त करते हैं जिस स्वर में सिद्धों-नाथों और निर्गुणियों ने आक्रोश/गर्म उद्गार व्यक्त किए थे। प्रो. हीरालाल जैन ने ठीक लिखा है – इन दोहों में जोगियों का आगम, अचित्-चित्, देह, देवली, शिव-शक्ति, संकल्प-विकल्प, सगुण-निर्गुण, अक्षर बोध-विबोध, वाम-दक्षिण अध्व, दो पथ रवि-शशि, पवन, काल आदि ऐसे शब्द हैं और उनका ऐसे गहनरूप में प्रयोग हुआ है कि उनमें हमें योग और तांत्रिक ग्रन्थों का स्मरण हुए बिना नहीं रहता। संप्रति, आगम-संत-संवादी स्वरों में से एक-एक का पर्यवेक्षक प्रकान्त है।

(1) परतत्त्व संबंधी वैचारिक या सैद्धांतिक पक्ष

ऊपर यह स्पष्ट कहा जा चुका है कि जैन धारा में आत्मा ही मुक्त दशा में परमात्मा है, वह अनेक है और अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य के भण्डार हैं। अशुद्ध दशा में उनके ये गुण कर्मों से ढके रहते हैं। पर इस मान्यता के साथ-साथ उक्त ग्रंथों में ऐसी कई बातें पाई जाती हैं – जो नि:संदेह आगमिक धारा की हैं। संतों की भाँति जैन मुनियों के स्रोत

भी वे ही तांत्रिक ग्रंथ हैं। बौद्धों की भाँति जैनों पर भी यह प्रभाव दृष्टिगत होता है। आगमिकों की भाँति जैन मुनियों ने भी परमात्मभाव को 'समरस' ही नहीं कहा है 'शिव-शक्ति' का समरूप या अद्वयात्मक रूप भी कहा है। मुनि रामसिंह ने पाहुड दोहा में कहा है -

सिव विणु सन्ति ण वावरइ, सिउ पुणु सन्ति विहीणु ।
दोहिमि जाणहिं सयलु जगु, वुज्झइ मोह - विलीणु ॥ 55 ॥

- शक्तिरहित शिव कुछ नहीं कर सकता और न शक्ति ही शिव का आधार ग्रहण किए बिना कुछ कर सकती है। समस्त जगत् शिवशक्तिमान है। जड़ परमाणु अपनी समस्त संरचना में गतिमय सस्पंद है जो शक्ति का ही स्थूल परिणाम है। दूसरी और जीव भी डी.एन.ए. तथा आर.एम.ए. के संयुक्त रूप में द्वयात्मक है। एकत्र वही शक्ति शिव ऋणात्मक-धनात्मक अवयव हैं अन्यत्र स्त्रीत्व तथा पुंस्त्व का सम्मिलन - इस प्रकार सारा जगत् द्वयात्मक है - जो अपनी निरपेक्ष स्थिति में अद्वयात्मक है। संत साहित्य के अन्तर्गत राधास्वामी साहित्य तथा गुरुनानक की 'प्रागसंगली' में भी इस सिद्धान्त का बृहद् रूप में निरूपण है। परतत्त्व या परमात्मा को समरस कहना द्वयात्मकता-सापेक्ष ही तो है। अभिप्राय यह कि मूल धारणा आगमसम्मत है - वही इन जैन मुनियों की उक्तियों में तो प्रतिबिम्बित है ही, संतों ने भी 'सुरत' तथा 'शब्द' के द्वारा तांत्रिक बौद्ध सिद्धों ने 'शून्यता' और 'करुणा' तथा 'प्रज्ञा' और 'उपाय' के रूप में उसी धारणा को स्वीकार किया है। अन्यत्र 'समरसीकरण' की भी उक्तियाँ हैं -

मणु मिलियउ परमेसर हो, परमेसरु जि मणस्स ।
विण्णि वि समरसि हुइ रहिय, पुज्जु चडावउ कस्स ॥ 49 ॥ पाहुड दोहा

- मन परमेश्वर से तथा परमेश्वर मन से मिलकर समरस हो जाता है और जब यह सामरस्य हो गया, तब द्वैत का विलय भी हो जाता है। द्वैत का विलय हो जाने से कौन पूजक और कौन पूज्य ? कौन आराधक और कौन आराध्य? फिर तो 'तुभ्यं मह्यं नमो नमः' की स्थिति आ जाती है। इस तरह सामरस्य की अनेकत्र चर्चा उपलब्ध हो जाती है।

देह महेली एह वढ तउ सत्तावइ ताम ।
चित्तु णिरंजणु परिणु सिंहु समरसि होइ ण जाम ॥ 64 ॥ पाहुड दोहा

- लक्ष्य के रूप में इसी 'सामरस्य' की उपलब्धि भी उन्हें इष्ट है। संतों ने जिस मनोन्मती दशा की ओर संकेत किया है उसका पूर्वाभास इन लोगों में भी उपलब्ध है -

तुट्टइ वुद्धि तड़त्ति जहिं मणु अंथवणहं जाइ ।
सो सामिय उपएसु कहि अणणहिं देवहिं काइं ॥ 183 ॥ पाहुड दोहा

- इस सामरस्य की उपलब्धि हो जाने पर बुद्धि का आहंकारिक 'अध्यवसाय' तथा मन की संकल्प-विकल्पात्मक वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। आगम संवादी संतों के स्वर में आम देवताओं की उपासना से विरति तथा उक्त गंतव्य की उपलब्धि ही स्वामी की ओर से इन्हें मान्य है। कहीं-कहीं तो संतों और इन जैन मुनियों की उक्तियाँ एक-दूसरे का रूपान्तर जान पड़ती हैं। नमक और पानी के एक ही दृष्टान्त से जो बात रामसिंह कहते हैं वही कबीर भी।

जिमि लोण विलिज्जइ पाणिपह तिमजइ चित्त विलिज्ज ।
समरसि हूवइ जीवड़ा काह समगहि करिज्ज ॥ 176 ॥ पाहुड दोहा

ठीक इसी की प्रतिध्वनि कबीर में देखें -

मन लागा उनमन सौ उनमन मनहिं विलग ।
लूँण विलगा पाणया, पांणी लूण विलग ॥

(2) वासना-दमन की जगह वासना-शोधक और उसकी सहजानंद में स्वाभाविक परिणति के संकेत -

बौद्ध सिद्धों के समकालीन इन जैन संतों में भी चरमावस्था के लिए 'सहजानंद' शब्द का प्रयोग मिलता है। संतों ने तो शतश:-सहस्रश: 'सहज' की बात कही है। भारतीय साधनधारा में जैन मुनियों के 'कृच्छ्र' के विपरीत ही 'सहज' साधना और साध्य की बात संभव है प्रचलित हुई हो। अध्यात्म साधना में मन का एकाग्रीकरण विक्षेप मूल वासना या काषाय के शोषण से तो 'श्रमण' मानते ही थे, दूसरे प्रवृत्तिमार्गी आगमिक साधक ऐसी कुशलता सहज पा लेना चाहते थे कि वासनारूपी जल में रहकर ही विपरीत प्रवाह में रहना उसे आ जाय। साधकों को यह प्रक्रिया दमन की अपेक्षा अनुकूल लगी। तदर्थ वासना-जल की अधोवर्ती स्थिति का ऊर्ध्वीक अपेक्षित था। जैन साधकों के अपभ्रंश काव्य में तो संकेत खोजे जा सकते हैं पर भाषाकाव्य में कबीर के बाद स्पष्ट कथन मिलने लगते हैं। जैन-मरमी आनंदघन की रचनाएँ साक्षी हैं। वे कहते हैं -

आज सुहागन नारी, अवधू आज सुहागन नारी ।
मेरे नाथ आय सुध लीनी, कीनी निज अंगचारी ।
प्रेम प्रतीति राग रुचि रंगत, पहिरे झीनी सारी ।
मँहिदी भक्ति रंग की राँची, भाव अंजन सुखकारी ।
सहज सुभाव चुरी मैं पहिनी, थिरता कंकन भारी ॥ इत्यादि ----

इन पंक्तियों में क्या 'संतों' का स्वर नहीं है? संतों की भाँति इन अपभ्रंश जैन कवियों में भी 'सहज' शब्द का प्रयोग साधन और साध्य के लिए हुआ है। आनंदतिलक ने 'आणंदा' नामक काव्य में स्पष्ट कहा है कि कृच्छ्र साधना से कुछ नहीं हो सकता, तदर्थ 'सहज समाधि' आवश्यक है -

जापु जवइ वहु तव तवई तो वि ण कम्म हणेइ ।

× × × × ×

सहज समाधिहिं जाणियइ आणंदा जे जिण सासणिसारु ।

इसी प्रकार मुनि जोगीन्दु ने भी योगसार में कहा है कि सहजस्वरूप में ही रमण करना चाहिए -

सहज सरूवइ जइ रमहि तो पावहि सिव सन्तु ।

- सहज स्वरूप में जो रमता है वही शिवत्व की उपलब्धि कर सकता है।

छीहता ने तो चरम प्राप्य को 'सहजानंद' ही कहा है -

हउं सहजाणंद सरूव सिंधु ---

रामसिंह तो सहजावस्था की बात बार-बार कहते हैं।

इस प्रकार जैनधारा जिन बातों में अपना प्रस्थान पृथक् रखती आ रही है - 1. परतत्त्व की द्वयात्मकता, 2. द्वैत के समस्तविध निषेध तथा 3. वासना-शोधन का सहजमार्ग - उन आगमिक विशेषताओं का प्रभाव जैन अपभ्रंश काव्यों में उपलब्ध होता है। मध्यकाल की भाषाबद्ध अन्यान्य रचनाओं में आगमसंवादी संतों की पारिभाषिक पदावलियाँ इतनी अधिक उदग्र होकर आई हैं - कि जैन मुनियों या कवियों का नाम तरा देने पर पर्याप्त भ्रम की गुंजाइश है।

इन महत्त्वपूर्ण प्रभावों के अतिरिक्त ऐसी और भी अनेक बातें हैं जिन्हें 'संतों' के संदर्भ में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए - 1. पुस्तकीयज्ञान की निंदा, 2. भीतरी साधना पर जोर, 3. गुरु की महत्ता, 4. वाह्याचार का खंडन आदि।

1. आगम 'बहिर्याग' की अपेक्षा 'अंतर्याग' को महत्त्व देते हैं और सैद्धान्तिक वाक्यबोध की अपेक्षा व्यावहारिक साधना को। सैद्धान्तिक वाक्य-बोध में जीवन खपाने को प्रत्येक साधक व्यर्थ समझता है, यदि वह क्रिया के अंगरूप में नहीं है। संतों ने स्पष्ट ही कहा है -

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय ।

परमात्मप्रकाशकार का कहना है -

सत्थु पढंतु वि होइ जडु जो ण हणेइ वियप्पु ।
देहि वसंतु वि णिम्मलउ णवि मण्णइ परमप्पु ॥ 214 ॥

- शास्त्रानुशीलन के बाद भी यदि विकल्प-जाल का विनाश न हुआ तो ऐसा शास्त्रानुशीलन किस काम का ? इसी बात को शब्दान्तर से 'योगसार' में भी कहा है -

जो णवि जण्णइ अप्पु पर णवि परभाउ चएइ ।
सो जाणउ सत्थइं सयल ण हु सिव सुवसु लहेइ ॥ 96 ॥

- जिसने सकल शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करके भी यह न जाना कि क्या उपादेय और क्या हेय है, क्या आत्मीय है और क्या परकीय है, संकीर्ण स्पष्ट भाव में व्यस्त रहकर जिसने परभाव का त्याग नहीं किया वह शिवात्मक सुख की उपलब्धि किस प्रकार कर सकता है ? इसी प्रकार दोहापाहुडकार का भी विश्वास है कि जिस पंडित शिरोमणि ने पुस्तकीय ज्ञान में तो जीवन खपा दिया पर आत्मलाभ न किया उसने कण को छोड़कर भूसा ही कूटा है -

पंडिय पंडिय पंडिया, कणु छंडिवि तुस कंडिया ।
अत्थे गंथे तुट्ठो सि, परमत्थु ण जाणहि मूढ़ोसि ॥ 85 ॥

2. पुस्तकी ज्ञान की अवहेलना के साथ संतों का दूसरा संवादी स्वर है - भीतरी साधना मत अंतर्याग पर बल। सिद्धों, नाथों और संतों की भाँति इन जैन मुनियों ने भी कहा है कि जो साधु वाह्य लिंग से तो मुक्त है किन्तु आंतरिक लिंग से शून्य है वह सच्चा साधककर्ता है ही नहीं, विपरीत इसके मार्ग-भ्रष्ट है। सच्चा लिंग भाव है, भाव-शुद्धि से ही आत्मप्रकाश संभव है। मोक्ष पाहुड में कहा गया है -

वाहिर लिंगेण जुदो अभ्यंतरलिंगरहिय परियम्मो ।
सो सगचारित्तभट्टो मोक्ख पहविणासगो साहू ॥ 61 ॥

इसी बात को शब्दान्तर से कुंदकुंदाचार्य ने 'भावपाहुड' में भी कहा है -

भावो हि पढमलिंग न दव्वलिंग च जाण परमत्थं ।
भावो कारणवूदो गुणदोसाणं जिणाविति ॥ 2 ॥

3. अन्तर्याग पर मल ही नहीं, उससे विच्छिन्न मूत्र वहिर्याग, वाह्यलिंग अथवा वाह्याचार का उसी आवेश और विद्रोह की मुद्रा में जैन मुनियों ने खण्डन भी किया है। आनन्दतिलक ने स्पष्ट ही कहा है कि कुछ लोग या तो बालों को नुचवाते हैं अथवा व्यर्थ में जटा-वहन करते हैं, परन्तु इन सबका फल जो आत्मबिन्दु का बोध है, उससे अपने को वंचित रखते हैं -

केइ केस लुचावहिं, केइ सिर जटभारु ।
अप्पबिंदु ण जाणहिं, आणंदा! किम जावहिं भवपारु ॥ 9 ॥

मुनि योगीन्दु ने भी कहा है कि जिन लोगों ने जिनवरों का बाहरी वेष-मात्र अपना रखा है, भस्म से केश का लुंचन किया है किन्तु अपरिग्रही नहीं हुआ उसने दूसरों को नहीं, अपने को ठगा है। इसी प्रकार इन मुनियों ने तीर्थ-भ्रमण तथा देवालय-गमन का भी उग्र स्वर में विरोध किया है। मुनि योगीन्दु ने तीर्थ-भ्रमण के विषय में कहा है -

तित्थइं तित्थु भमंताहं मूढ़हं मोरूव ण होइ ।
णाण विवज्जिउ जेण जिम मुणिवरु होइ ण सोइ ॥ 216 ॥

मुनि रामसिंह के देवल-गमन तथा मूर्ति-पूजा के विपक्ष में उद्‌गार देखें -

पत्तिय पाणिउ दब्भ तिल सव्वइं जगणि सवण्णु ।
जं पुण मोक्खहं जाइवउ तं कारणु कुइ अण्णु ॥ 159 ॥
पत्तिय तोडि म जोइया फलहिं ज इत्थु म वहि ।
जसु कारणि तोडेहि तुहुँ सोउ एत्थु चडाहि ॥ 160 ॥
देवलि पाहणु तित्थि जलु पुत्थइं सव्वइं कव्वु ।
वत्थु जु दीसइ कुसुमियउ इधण होसइ सव्वु ॥ 161 ॥

--- इत्यादि इन पंक्तियों में स्पष्ट ही कहा गया है कि देवालय-गमन या तीर्थ-भ्रमण से कुछ नहीं होने का जब तक मन में काषाय शेष है। मनोगत काषाय का संचरण और निर्जरण प्रमुख वस्तु है।

4. आगमिक परम्परा से प्रभावित इन जैन मुनियों की संतों, सिद्धों और रहस्यावादी नाथों से चौथी समानता यह है कि वे भी बहिर्मुखी साधना से हटकर शरीर के भीतर की साधना पर बल देते हैं। देव संताचार्य ने 'तत्त्वसार' में स्पष्ट कहा है -

थक्के मण संकप्पे रुद्दे अरुवाण विसयवावारे ।
पगटइ वंभसरूव अप्पा झाणेण जोईणं ॥

- आत्मोलब्धि करनी है तो मनोदर्पणगत काषाय मल का अपवारण आवश्यक है। रत्नत्रय ही मोक्ष है - किन्तु वह पोथियों से नहीं, स्वसंवेदन से ही संभव है। स्वसंवेदन-अपने से ही अपनी को जानना है। इसीलिए उक्त दोहे में कहा गया है कि यह स्व-संवेदन ही है जिसके द्वारा

मन के संकल्प मिट जाते हैं, इन्द्रियों विषयों से उपरत हो जाती हैं और आत्म-ध्यान से योगी अथवा स्वरूप जस लेता है।

5. पाँचवाँ साम्य है – गुरु माहात्म्य या महत्त्व का। आगम-सम्मत धारा चूँकि साधन को सर्वाधिक महत्त्व देती है अत: निर्देशक के अभाव में यह कार्यान्वित हो नहीं सकती। संतों ने 'गुरु' को परमात्मा का शरीरी रूप ही कहा है। जैन मुनियों में भी गुरु महिमा का स्वर उतना ही उदग्र है। मुनि रामसिंह ने पाहुडदोहा में गुरु की वंदना की है और कहा है –

गुरु दिणयरु गुरु हिमकिरणु गुरु दीवउ गुरु देउ ।
अप्पापरहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ ॥ 2॥

अर्थात् गुरु दिनकर, हिमकर, दीप तथा देव सब कुछ है। कारण यही तो आत्मा और अनात्मा को भेद स्पष्ट करता है। यह सद्गुरु ही है जिसके प्रसाद से केवलज्ञान का स्फुरण होता है। उसी की प्रसन्नता का यह परिणाम है कि साधक मुक्तिरूपी स्त्री के घर निवास करता है।

केवलणाणावि उपज्जइ सद्गुरु वचन पसावु ।

निष्कर्ष यह कि अपभ्रंश-बद्ध जैन काव्यों में उस स्वर का स्पष्ट ही पूर्वाभास उपस्थित है जो संतों में लासित होता है।

2, स्टेट बैंक कॉलोनी
देवास रोड
उज्जैन (म.प्र.)

अपभ्रंश खण्डकाव्यों में प्रकृति-वर्णन

- कु. रेनू उपाध्याय

अपभ्रंश काल के महाकाव्यों में जहाँ प्रकृति-वर्णन का विस्तृत रूप दृष्टिगोचर होता है, वहीं खण्डकाव्यों में ऐसे वर्णन संक्षिप्त रूप में मिलते हैं। इन्हें दृश्यों की स्थानगत विशेषता या लोकल कलर भी माना जा सकता है। चारों ओर विस्तृत प्रकृति के साथ हृदय का सामंजस्य करना आसान नहीं है। कल्पना के आरोप की परम्परा कालिदास के युग से अग्रसर होकर अपभ्रंश काल तक काफी रूढ़ हो चुकी थी।

अपभ्रंश के प्रमुख कवि पुष्पदन्त का 'णायकुमारचरिउ' विशुद्ध धार्मिक-भावनाप्रधान खण्डकाव्यों में से एक है। इसमें मगध देश के राजा जयंधर के गृहस्थ जीवन तथा उनके पुत्र नागकुमार के जीवन-चरित के माध्यम से उसके अप्रतिम सौंदर्य, शौर्य, राज्य-संचालन तथा धार्मिक आस्थाओं का परिचय मिलता है। डॉ. रामगोपाल शर्मा के मतानुसार - "जीवन और प्रकृति के अनेक चित्र इस काव्य में भी अंकित किए गये हैं।[1]" प्रमाण के लिए निम्न पंक्तियाँ देखिए -

सप्पुरिसु व थिर मूलाहिठाणु सप्पुरिसु व अकुसुमफल णिहाणु ।
सप्पुरिसु व कइ सेविज्जमाणु सप्पुरिसु व दियवर दिण्णदाणु ।।
सप्पुरिसु व परसंतावहारि सप्पुरिसु व पत्तुद्धरण कारि ।
सप्पुरिसु व तहिं वडविडवि अत्थि जहिं करइ गंड कंडुयणु हत्थि ।।[2]

– उस जिनमन्दिर के समीप सत्पुरुष के समान एक वट-वृक्ष है जिसकी जड़ें स्थिरता से जमी हुई हैं। अतएव जो उस सत्पुरुष के समान है जिसके वंश का मूल पुरुष चिरस्थायी कीर्तिमान है। उसमें बिना फूलों के खूब फल-सम्पत्ति थी। अतः वह उस सत्पुरुष के समान था जो निष्कारण उपकार करता है। वह कपियों द्वारा सेवित था जैसे सत्पुरुष कवियों द्वारा। वह पक्षियों को फल का दान किया करता था जैसे सत्पुरुष द्विजों को। वह पथिकों के श्रम को अपनी छाया द्वारा दूर करता था जैसे सत्पुरुष दीन-दुखियों के सन्ताप को अपने धन द्वारा। वह पत्तों को झराया करता था जैसे सत्पुरुष पात्रों का उद्धार करता है। उस वट-वृक्ष से रगड़कर हाथी अपने गंडस्थलों की खुजली मिटाया करते थे।

उनका 'जसहरचरिउ' नामक खण्डकाव्य जसहर (यशोधर) और उसकी माता चन्द्रमति के अनेक जन्मों की कथा एवम् जैनधर्म की महिमा पर आधारित है। इस खण्डकाव्य में कवि ने प्रकृति एवं पशु-पक्षियों के प्रति प्रत्येक मानव के हृदय में करुणा एवम् सहानुभूति उत्पन्न करने की दृष्टि से ही जसहर तथा चन्द्रमति के भिन्न-भिन्न पशु-पक्षियों की योनि में प्राप्त जन्मों का उल्लेख किया है। नदी, वृक्ष, पुष्प, सुगन्ध, वायु, पृथ्वी, जल, उपवन, ईख के खेत, भंवरे, प्रातः, संध्या, निशा, सूर्योदय तथा चन्द्रोदय आदि प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से प्रकृति-चित्रण को साकार रूप प्रदान करना इस खण्डकाव्य की अद्वितीय विशेषता है। निम्नलिखित पंक्तियों में संश्लिष्ट, प्रकृति-वर्णन के अन्तर्गत, तटवर्ती वृक्षों से पतित पुष्पराशि से सुसज्जित क्षिप्रा नदी में रंग-बिरंगे वस्त्र धारण किये हुए प्रकृतिरूपी सुन्दरी के रूप-लावण्य की संभावना इस बात की प्रमाण है –

तड़तरुपडियकुसुमपुंजज्जल पवण वसा चलंतिया।
दीसइ पंचवण्ण णं साड़ी महिमहिलहि घुलंतिया।
जलकीलंत तरुणिघणयण जुयवियलिय घुसिणपिंजरा।
वायाहयविसाल कल्लौल गलच्छिय मत्तकुंजरा।
कच्छवमच्पुच्छ संघट्ट विहाट्टियसिप्पिसंपुडा।[3]

– वह अपने तटवर्ती वृक्षों से गिरनेवाले पुष्पों के समूहों से उज्ज्वल है तथा पवन के कारण तरंगों से चलायमान है, इस कारण वह ऐसी दिखाई देती है मानो पृथ्वीरूपी महिला की लहलहाती हुई पचरंगी साड़ी हो। वायु के थपेड़ों से उठनेवाली विशाल कल्लोलों द्वारा वहाँ मदोन्मत हाथी उत्प्रेरित हो रहे हैं। वहाँ कछुओं और मछलियों की पूँछों के संगठन से सीपों के सम्पुट विघटित हो रहे हैं।

अपनी सुन्दर कल्पना को चित्रित करने के लिए कवि संध्या-वर्णन करते हुए कहता है –

अत्थसिउ रत्तउ मित्तुजहिं, दिसिणारि वि रज्जइ बप्प तहिं।
रण वीरु वि सरु किं तवइ, बहु पहरिहिं णिहणु जि संभवइ।
रवि उग्गु अहोगइणं गयउ, णं रत्तउ कंदउ णिक्खियउ।
तहि संझा वेल्लि वणीसरिय, जग मंडवि सा णिरु वित्थरिय।

तारावलि कुसुमहिं परियरिय, संपुण्ण चंद फल भरणविय ।
णं रत्त गोवि छाइय हरिणा, सा खद्धी बहल तिमिरकरिणा ।
णं चक्कु तमोह विहंडणउ, णं सुरकरि सिय मुह मंडणउ ।
णं कित्तिए दाविउ णिययमुहु, णं अमय भवणु जण दिण्ण सुहु ।
णं जसु पुंजिउ परमेसर हो, णं पडुर छत्तु सुरेसर हो ।
णं रयणी वहुहि णिलाउ तिलउ ------।[4]

- *जहाँ अस्ताचल पर स्थित मित्र (सूर्य) अनुरक्त हुआ (लाल हुआ) वहाँ, बाप रे, दिशारूप नारी भी रक्त (लालानुरागयुक्त)* हो उठी। सूर्य भी कहाँ तक तपेगा ? दिनके चार पहरों पश्चात् उसका भी अस्त होना निश्चित है, जिसप्रकार रण में वीरता दिखानेवाला सूर भी अनेक प्रहारों से आहत होकर मृत्यु को प्राप्त होता है। सूर्य उदित हुआ और फिर मानो अधोगति को प्राप्त हुआ, जैसे कहीं बोया हुआ बीज लाल अंकुर के रूप में प्रकट हुआ हो। उसके द्वारा वहाँ सन्ध्यारूपी लता निकलकर समस्त जगतरूपी मण्डप पर छा गई। वह तारावलीरूपी कुसुमों से युक्त हो उठी तथा पूर्णचन्द्ररूपी फल के भार से झुक गई। जैसे मानो अनुरक्त हुई गोपी कृष्ण के द्वारा आच्छादित हुई हो, ऐसी ही सन्ध्याकालीन रक्तिमा से लाल हुई भूमि पहले हरे तृण से आच्छादित हुई और उस तृण को सघन अन्धकाररूपी हाथी ने चर लिया। अब चन्द्रमा का उदय हुआ। मानो वह अन्धकार-समूह को खण्डित करनेवाला चक्र हो, मानो देवों के कृष्णमुख का मण्डन हो, मानो कीर्तिदेवी ने अपना मुख दिखलाया हो, मानो लोगों को सुखदाई अमृतकुण्ड प्रकट हुआ हो, मानो परमेश्वर का यश:पुंज हो, मानो इन्द्र का श्वेतछत्र हो, मानो रात्रिरूपी वधू के मस्तिष्क का तिलक हो।

वीर कवि द्वारा रचित 'जंबुसामिचरिउ' जंबूस्वामी, उनके बड़े भाई और उनकी पत्नियों के पूर्व जन्मों की कथा से सुसज्जित खण्डकाव्य है। इसमें भी सूर्योदय, सूर्यास्त, ग्राम, नगर, अरण्य, उद्यान तथा बसन्तादि के वर्णन के द्वारा प्रकृति के उद्दीपक रूप का चित्रण हुआ है। उदाहरण के लिए राजा के भ्रमण के लिए जाते समय पुष्प-मकरन्द से सुरभित एवम् पराग-रज से रंजित उद्यान में भौंरों का गूँजना, वहाँ के शान्त, शीतल तथा मनमोहक वातावरण से युक्त प्राकृतिक सौंदर्य का अद्‌भुत दृश्य दर्शनीय है -

मंद मंदार मयरंद नन्दनं वणं, कुंदकर वंद वयकुंद चन्दन घणं ।
तरल दल ताल चल चवलि कयलीसुहं, दक्ख पउमक्ख रुद्‌दक्खखोणीरुहं ।
विल्ल वेइल्ल विरिहिल्ल सल्लइवरं, अंब जंबीर जंबू कयंबू वरं ।
करुण कणवीर करमरं करीरायणं, नाग, नारंग नागोह नीलंवरं ।
कुसुम रय पयर पिंजरिय धरणीयलं, तिक्ख नहु चंबु कणयल्ल खंडियफलं ।
भमिय भमर उल संछइय पंकयसरं, मत्त कलयंठि कलयट्ठ मेल्लिय सरं ।
रुक्ख रुक्खंमि कप्पयरु सिय भासिरि, रइ वराणत्त अवयण्ण माहवसिरि ।[5]

- उस नन्दनवन में मंदार की मंद मकरंद फैल रही थी और वह कुंद, करवंद (करौंदा), मुचकुंद तथा चंदन वृक्षों से सघन था। वहाँ तरल पत्तोंवाले ताल, चंचल लवली और सुन्दर कदली तथा द्राक्षा, पद्माक्ष एवं रुद्राक्ष के वृक्ष थे। बेल, विचिकिल्ल, चिरिहिल्ल तथा सुन्दर सल्लकी

और आम, जंबीर (नीबू), जंबू तथा उत्तम कदम्ब थे। कोमल कनेर, करमर, करीर (करील), राजन, नाग, नारंगी व न्यग्रोध वृक्षों से नीला अंबर (हरित) हो रहा था। कुसुमरज के प्रकर (समूह) से वहाँ का भूमिभाग पिंगलवर्ण हो गया था। शुकों के तीखे नख व चंचुओं से वहाँ के फल खण्डित थे। घूमते हुए भ्रमरकुलों से पंकज-सरोवर आच्छादित था और मत्त कलकंठियों के मधुर कंठ से स्वर छूट रहा था। रतिपति की आज्ञा से वृक्ष-वृक्ष में कल्पवृक्ष की शोभा से भास्वर माधवश्री बसन्त-शोभा अवतीर्ण हुई।

नयनंदीकृत 'सुदंसणचरिउ' में वणिक-पुत्र सुदर्शन के जन्म-वृतान्त, उसका अप्रतिम सौंदर्य, चरित्रगत दृढ़ता और आचार-व्यवहार आदि का उल्लेख मिलता है। खण्डकाव्य में प्रयुक्त उपदेशों से कवि की धार्मिक प्रवृत्ति का भी परिचय मिलता है। प्राकृतिक-चित्रण की दृष्टि से कवि ने स्त्री-पुरुष, उपवनों, राजहंसों, नदियों, सूर्यास्त, प्रभात तथा बसन्त ऋतु इत्यादि के सुन्दर एवम् अलंकृत चित्रों को अपने खण्डकाव्य का मुख्य विषय बनाया है, जिसका स्पष्ट प्रमाण यह प्रभात-वर्णन है -

ता जग सरवरम्मि णिसि कुमइणि, उड्डु पफुल्ल कुमुय उब्भासिणि ।
उम्मूलिय पच्चूस मयंगें, गमु सहिउ ससि हंस विहंगें।
वहल तमंधयार वारण-अरि, दीसइ उयय सिहरे रविकेसरि ।
पुव्व दिसावहूय अरुण छवि, लीला कमलु व उब्भासइ रवि ।
सोहम्माइकप्पफल जोयहो, कोसुम गुंछु व गयणा सोयहो ।
दिण सिरि विद्दुमविल्लिहेकंडुव, णहसिरि घुसिणललामय विदुंव ।[6]

- तभी जगरूपी सरोवर से तारारूपी प्रफुल्ल कुमुदों से उद्‌भासित रात्रिरूपी कुमुदिनी को प्रत्यूषरूपी मातंग ने उन्मूलित कर डाला। शशिरूपी हंस पक्षी ने गमन की तैयारी की। सघनतम अंधकाररूपी गज का वैरी रविरूपी सिंह उदयाचल के शिखर पर दिखाई दिया। पूर्व दिशारूपी वधू के लीलाकमल के सदृश अरुणवर्ण रवि उद्‌भासित (उदित) हुआ। जैसे मानो वह योग का सौधर्मादि स्वर्गरूप फल हो, गगनरूपी अशोक का पुष्पगुच्छ हो, दिनश्रीरूपी प्रवाल की बेल का कंद हो तथा नभश्री के भाल का केशरमय ललामबिन्दु हो।

'करकंडचरिउ' मुनि कनकामर का, महाराज करकंड के जन्म से जुड़ी अनेक अलौकिक एवम् चमत्कारपूर्ण घटनाओं और उनकी चरित्रगत विशेषताओं पर आधारित एक धार्मिक खण्डकाव्य है। इस खण्डकाव्य के प्राकृतिक सौंदर्य में कोई विशेष चमत्कार या नयापन न होते हुए भी कवि ने प्रकृति की जड़ता या स्पन्दनहीनता को अस्वीकार करते हुए उसे हँसते-गाते, उछलते-कूदते तथा नाचते हुए महसूस किया है। जैसा कि उसके निम्नलिखित सरोवर-वर्णन से स्पष्ट हो जाता है -

जलकुंभि कुंभ कुंभइं धरंतु तण्हाउर जीवहं सुहु करंतु ।
उद्दंड णलिणि उणणइ वहंतु उच्छलिय मीणहिं मणु कहंतु ।
डिंडीर पिंड रयणाहि हसंतु अइणिम्मल पउर गुणेहिंजंतु ।
पच्छण्णउ वियसियपंकएहिं णच्चंतउ विविह विहंगएहिं ।
गायंतउ भमरावलि खेण धावंतउ पवणाहय जलेण ।
णं सुयणु सुहावउ णयणइट्ठ जलभरिउ सरोवरु तेहिं दिट्ठु ।[7]

- वह जल हस्तियों के कुम्भस्थलों द्वारा कलश धारण किये था और तृष्णातुर जीवों को सुख उत्पन्न करता था। वह उच्च-दण्ड कमलों के द्वारा उन्नति वहन कर रहा था और उछलती मछलियों द्वारा अपना उछलता मन प्रकट कह रहा था। फेन पिण्डरूपी दाँतों को प्रकट करता हुआ हँस रहा था एवं अति निर्मल व प्रचुर गुणोंसहित चल रहा था। फूले हुए कमलों द्वारा वह अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहा था और विविध विहंगों के रूप में नाच रहा था। भ्रमरावली की गुंजार द्वारा वह गा रहा था और पवन से प्रेरित जल के द्वारा दौड़ रहा था। इस प्रकार एक सुहावने व नयन-इष्ट सज्जन के समान उस जल से भरे हुए सरोवर को उन्होंने देखा।

धार्मिक आवरण में आबद्ध दिव्य-दृष्टि धाहिल के 'पउमश्रीचरिउ' में पद्मश्री और समुद्रदत्त के पूर्वजन्मों तथा उन दोनों की प्रेमकहानी एवम् प्रणय-प्रसंगों का वर्णन है। कवि ने अपने इस खण्डकाव्य में प्रकृति-वर्णन के संश्लिष्टात्मक, उपदेशात्मक, नायक-नायिका की पृष्ठभूमि के रूप में और प्रकृति के बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का भी अंकन किया है। प्रमाण-स्वरूप सूर्योदय-वर्णन के इस उदाहरण में उपदेशात्मक प्रकृति-चित्रण के दर्शन होते हैं -

परिगलय रयणि उग्गमिउ भाणु उज्जोइउ मज्झिम भुयण भाणु ।
विच्छाय कंति ससि अत्थमेइ सकलंकह किं थिरु उदउ होइ ।
मउलंति कुमुय महुयर मुयंति थिर नेह मलिण किं कह वि हुंति ।[8]

- रात बीत गई सूर्य उदित हुआ। मंद कान्तिवाला चन्द्रमा अस्त हो रहा है। कलंकित का उदय क्या स्थिर रह सकता है? कुमुद मुकुलित हो रहे हैं, मधुकर उन्हें छोड़ उड़ रहे हैं, क्या मलिन-काले कहीं स्थिर प्रेमी होते हैं।

'संदेश रासक' अद्दहमाण द्वारा लिखित एक लौकिक खण्डकाव्य है। "भारतीय साहित्य में, विरहिणी नायिका का किसी अन्य के द्वारा प्रवासी प्रिय के पास सन्देश-प्रेषण एक ऐसी महत्त्वपूर्ण और व्यापक काव्य रूढ़ि रही है कि इसका उपयोग प्रेमकाव्य के रचयिताओं ने जी खोलकर किया है। यही नहीं, कल्पना-प्रवण भारतीय कवियों ने सन्देश ले जाने के लिए हंस, शुक, भ्रमर, मेघ आदि मानवेतर जीवों और अचेतन वस्तुओं को भी इस कार्य में नियोजित किया है? प्रेम की भूमिका पर जड़-चेतन के एकत्व का यह विधान भारतीय कवि हृदय की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।"[9] इस खण्डकाव्य में प्रकृति-वर्णन का प्रमुख उद्देश्य नायिका की दारुण विरह-वेदना की अभिव्यंजना है। सभी ऋतुएँ उसके लिए अपार कष्टदायक और विरहोद्दीपक बन गयी हैं। शरद ऋतु-वर्णन की निम्न पंक्तियाँ देखिए -

झिज्झउँ पहिय जलिहि झिज्झंतिहि,
खिज्जउँ खज्जोयहिँ खज्जंतिहिं।
सारस सरसु रसहिं किं सारसि!
मह चिर जिण्ण दुक्खु किं सारसि ।[10]

- पथिक! जल के छीजने (कम होने) के साथ-साथ मैं भी छीजने लगी। खद्योतों के चमकने के साथ मैं खीजने (खिन्न होने) लगी। सारस सरस शब्द करते हैं। हे सारसि! मेरे चिरजीर्ण दु:ख का स्मरण क्यों कराती हो ?

जल के छीजने के साथ छीजनेवाली नायिका का चिरजीर्ण दुख बसन्त में भी कम नहीं होता -

गयउ गम्हु अइ दुसहु वरिसु उव्विन्नियइ,
सरउ गयउ अइकट्ठि हिमंतु पवन्नियइ ।
सिसिर फरसु वुल्लीणुकहव रोवंतियइ,
दुक्करु गमियइ एहु णाहु सुमरंतियइ ।।[11]

- दु:सह ग्रीष्म गया, उद्विग्नतापूर्वक वर्षा बीती, अति कष्ट से शरद बीता। हेमन्त आया, परुष शिशिर रोती हुई मैंने किसी प्रकार बिताया। नाथ का स्मरण करती हुई मेरे लिए इस बसन्त का बिताना दुष्कर है।

विद्यापति की 'कीर्तिलता' में राजा कीर्तिसिंह का यशगान है। इसमें परम्परा पालन के लिए कुछ स्थानों पर प्रकृति-वर्णन हुआ है, किन्तु रूप-वर्णन में प्राकृतिक सौंदर्य की छटा अपेक्षाकृत अधिक सौष्ठवपूर्ण है। केशों में बंधे हुए पुष्पों की अंधकार की हंसी के रूप में परिकल्पना तथा भृकुटि-भंगिमा की काजल की नदी के बीच लहरों में उछलती हुई मछलियों के रूप में की गयी उत्प्रेक्षा पर्याप्त प्रभावाभिव्यंजक है -

तान्हि केस कुसुम वस, जनि मान्य जनक लज्जावलम्बित ।
मुखचन्द्र चन्द्रिका करी अधओगति देखि अंधकार हँस ।।
नयनांचल संचारे भ्रूलता भङ्ग ।
जनि कज्जल कल्लोलिनी करी वीचिविवर्त बड़ बड़ी शफरी तरंग ।।[12]

- उनके केशों में बँधे पुष्प ऐसे लगते थे मानो शिष्टजनों के लज्जा से झुके हुए मुखचन्द्र की चन्द्रिका की अधोगति देखकर अंधकार हँस रहा हो। पलकों (नयनांजल) के संचार से भृकुटी की भंगिमा ऐसी प्रतीत होती थी मानो काजल की नदी के बीच भँवरयुक्त लहरों में उछलती हुई बड़ी-बड़ी शफरी मछलियाँ हों।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अपभ्रंश के खण्डकाव्यों में प्रकृति-वर्णन परम्परागत रूप में विषय की आवश्यकतानुसार ही परिलक्षित होता है। 'संदेश रासक' में कवि को ऋतु-वर्णन के अन्तर्गत प्रकृति-वर्णन का पर्याप्त अवसर भी मिला है। फिर भी काव्य-सौंदर्य एवम् वस्तु-वर्णन की दृष्टि से अपभ्रंशकालीन कवियों के ये वर्णन यथास्थान अपनी सार्थकता सिद्ध करने में समर्थ हैं।

---

1. डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश', अपभ्रंश भाषा का व्याकरण और साहित्य, पृ. 105।
2. पुष्पदन्त, णायकुमारचरिउ, 8.9.1-4।
3. पुष्पदन्त, जसहरचरिउ, 3.1।
4. वही, 2.2।
5. वीर कवि, जंबुसामिचरिउ, 4.16।

6. नयनंदी, सुदंसणचरिउ, 5.10।
7. मुनि कनकामर, करकंडचरिउ, 4.7.3-8।
8. दिव्यदृष्टि धाहिल, अपभ्रंश साहित्य, हरिवंश कोछड़, पृ. 205।
9. संदेशरासक, भूमिका, विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 70।
10. अद्दहमाण, संदेशरासक, शरद वर्णन, 16.5।
11. वही, वसन्त वर्णन, 204।
12. विद्यापति, कीर्तिलता, छन्द सं. 141-144।

द्वारा – डॉ. अशोक उपाध्याय
शुगर फैक्ट्री गली, सुभाष नगर
बरेली (यू.पी.)- 243001

बहुपहारेहिँ सूरु अत्थमियउ

बहुपहारेहिँ सूरु अत्थमियउ अहवा काइँ सीसए।
जो वारुणिहिँ रत्तु सो उग्गु वि कवणु ण कवणु णासए।
णहमरगयभायणेँ वरवंदणु, संझाराउ घुसिणु ससि चंदणु।
ससिमिगु कत्थूरी णिरु सामल, वियसिय गह कुवलय उडु तंदुल।
लेविणु मंगलकरणणुराइय, णिसितरट्टि तहिँ समएँ पराइय।

– सुदंसणचरिउ, 5.8

– बहु प्रहारों के पश्चात् सूर्य अस्तमित हुआ, (मानों) बहुत प्रहारों से शूरवीर नाश को प्राप्त हुआ। अथवा, क्या कहा जाय – जो वारुणि (पश्चिम दिशा) से रक्त हुआ, वह वारुणि (मदिरा) में रक्त पुरुष के समान उग्र होकर भी कौन-कौन नष्ट नहीं होता ? नभरूपी मरकत के पात्र में उत्तम वंदना हेतु संध्यारागरूपी केशर, शशिरूपी चंदन, चन्द्रमृगरूपी अत्यन्त श्यामल कस्तूरी विकसित ग्रहरूपी प्रफ्फुल कमल तथा तारारूपी तंदुल, इन मंगलकरणों (साधन-सामग्री) को लेकर अनुरागयुक्त निशारूपी रमणी उस समय आ पहुँची।

अनु. – **डॉ. हीरालाल जैन**

अपभ्रंश साहित्य और उसकी कृतियाँ

- प्रो. डॉ. संजीव प्रचंडिया

■

भारतीय आर्य भाषा के विकास की जो अवस्था अपभ्रंश नाम से जानी जाती है उसके लिए प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में अपभ्रष्ट और अपभ्रंश तथा प्राकृत में अवब्भंश, अवहंस, अवहत्थ, अवहट्ठ, अवहठ आदि नाम मिलते हैं।[1]

आज से लगभग 94 साल पहिले सन् 1902 ई. में जर्मन विद्वान पिशेल ने अपना पहिला संग्रह 'माटे रियालिएन त्सुरकेंट निस डेस अपभ्रंश' तैयार किया जिसमें उन्होंने हेमचन्द्र - प्राकृत-व्याकरण के सभी अपभ्रंश छंदों के अतिरिक्त पैंतीस पद्य और जोड़े। इसी प्रकार सन् 1918 ई. में जर्मन के ही याकोवी ने कवि धनपाल रचित 'भविसयत्त-कहा' का सम्पादन किया। वास्तव में ये लोग 'अपभ्रंश साहित्य' को शोध-खोज की दृष्टि से उभारकर लाने में सहायक हुए हैं। इस दृष्टि से श्री जिनविजय मुनि का कार्य विशेष महत्त्व का है। उन्होंने पुष्पदंत का महापुराण, स्वयंभूकृत पउमचरिउ, हरिवंशपुराण आदि का सफल सम्पादन किया था। इसी प्रकार प्रो. हीरालाल जैन कारंजा जैन भंडार को झाड़-बुहार कर जसहरचरिउ, णायकुमारचरिउ, करकंडचरिउ, पाहुडदोहा आदि ग्रंथों को प्रकाश में लाये।

सामान्य रूप से अपभ्रंश साहित्य की ज्ञात पुस्तकों की संक्षिप्त किन्तु अकारादि क्रम में सूची दी जा सकती है जिससे अपभ्रंश साहित्य का साहित्यिक कृतियों की दृष्टि से परिचय प्राप्त हो सके। यथा -

अ

अमरसेन-चरित - माणिक्कराज

अनाथ संधि	–	जिनप्रभ सूरि
अनन्त व्रत कथानक	–	
अन्जनासुन्दरी कथा	–	
अन्तरंग रास	–	जिनप्रभ सूरि
अन्तरंग विवाह	–	जिनप्रभ सूरि
अन्तरंग संधि	–	रत्नप्रभ सूरि (संवत् 1362 वि.)

आ

आराधना-सार	–	वीर
आदिपुराण (मेघेश्वर चरित)	–	सिंहसेन (रइधू)
आदिनाथ फाग	–	पुष्पदंत
आत्म-संबोधन	–	जिनप्रभ सूरि

उ

उपदेशक कुलक	–	देवसूरि

ऋ

ऋषभजिन-स्तुति	–	

क

करकंडचरिउ	–	रइधू
करकंडचरिउ	–	कनकामर मुनि
कथाकोष (कथाकोश)	–	श्री चन्द्र (संवत् 941-946)
कलास्वरूप कुलक	–	जिनदत्त सूरि
कालिकाचार्य कथा (अत्थि इहेव जम्बू) (अंशतः अपभ्रंश)	–	ब्राउन द्वारा सम्पादित
कुबलयमाला-कहा (अंशतः अपभ्रंश)	–	उद्योतन सूरि (सं. 835 वि.)
कुमारपाल-प्रतिबोध (अंशतः अपभ्रंश)	–	सोमप्रभ सूरि (संवत् 1241 वि.)

च

चन्द्रप्रभचरिउ	–	यशःकीर्ति
चन्द्रप्रभचरिउ	–	दामोदर
चैत्यपरिपाटी	–	जिनप्रभ सूरि
चर्चरी	–	जिनदत्त सूरि
चर्चरी	–	सोलण
चर्चरी	–	जिनप्रभ सूरि

ज

जयति हुअण	–	अभयदेव सूरि (संवत् 1119 वि.)
जयकुमार-चरित्र	–	रइधू
	–	ब्रह्मदेव सेन
जम्बूस्वामी-चरित्र	–	सागरदत्त (संवत् 1060 वि.)
जम्बूचरित्र	–	वीर (संवत् 1299 वि.)
जम्बूस्वामी रासा	–	धर्मसूरि (संवत् 1266 वि.)
जिन रात्रि-कथा	–	नरसेन
जिन-महिमा	–	जिनप्रभ सूरि
जिनदत्त-चरित्र	–	रइधू
जिन जन्म-मह	–	जिनप्रभ सूरि
जीवानुशास्ति संधि	–	नरसेन

त

त्रिषष्ठि - महापुरुष गुणालंकार (महापुराण)	–	पुष्पदंत

द

दङ्गड	–	
दशलक्षण जयमाला	–	सिंहसेन (रइधू)
दानादी (दानादि) कुलक	–	प्रद्युम्न
दोहाकोश	–	काण्ह
दोहाकोश	–	सरह
दोहानुप्रेक्षा	–	लक्ष्मीचन्द्र
दोहापाहुण/दोहापाहुड	–	रामसिंह
दोहा मातृका		

ध

धर्मसूरि स्तुति	–	
धर्माधर्म कुलक	–	जिनप्रभ सूरि
धर्माधर्म विचार	–	जिनप्रभ सूरि

न

नवकार फल कुलक	–	
नागकुमार चरिउ	–	पुष्पदंत
नागकुमार चरित	–	माणिक्क राज
निर्दोष सप्तमी कथा	–	
नेमिनाथ जन्माभिषेक	–	जिनप्रभ सूरि
नेमिनाथ चउपई	–	विनयचन्द्र सूरि (संवत् 1257 वि.)
नेमिनाथ चरिउ	–	हरिभद्र सूरि (8वीं से 12वीं शताब्दि के लगभग)

नेमिनाथ चरित	-	दामोदर
	-	लक्ष्मण देव
नेमिनाथ फाग	-	राजशेखर सूरि (सं. 1371 वि.)
नेमिनाथ रास	-	जिनप्रभ सूरि
प		
पद्मचरित्र/पउमचरिउ	-	स्वयंभू और त्रिभुवन
पद्मपुराण	-	रइधू
पद्मश्री चरित्र	-	धाहिल (संवत् 1191 वि.)
परमात्मप्रकाश	-	योगीन्द्र
पांडवपुराण	-	यशःकीर्ति
पार्श्वनाथ चरित्र	-	विनयचन्द्र सूरि
पार्श्वनाथ जन्माभिषेक	-	जिनप्रभ सूरि
पार्श्वनाथ पुराण	-	रइधू
पुराण सार	-	पद्मकीर्ति
		श्री चन्द्र मुनि
प्रद्युम्न चरित	-	रइधू
प्रबन्ध चिन्तामणि (अंशतः अपभ्रंश)	-	मेरुतुंग (संवत् 1361 वि.)
ब		
बलभद्र चरित	-	रइधू
बारहखड़ी दोहा	-	महाचन्द
बाहुबलि रास	-	शालिभद्र सूरि
भ		
भविस्सयत्त कहा	-	धनवाल
भव्य कुटुम्ब	-	जिनप्रभ सूरि
भव्य-चरित्र	-	जिनप्रभ सूरि
भावना कुलक	-	जिनप्रभ सूरि
भावना संधि	-	जयदेव (संवत् 1606 वि.)
म		
मदनरेखा चरित	-	संवत् (1297 वि.)
मलय सूरि-स्तुति	-	
मल्लिनाथ चरित	-	जिनप्रभ सूरि
महावीर चरित	-	जिनेश्वर सूरि के शिष्य
महावीर स्तोत्र	-	
मुनि चन्द्रसूर-स्तुति	-	देव सूरि
मुनिसुव्रत स्वामि स्तोत्र	-	जिनप्रभ सूरि

मेघेश्वर चरित	–	रइधू
मोहराज विजय	–	जिनप्रभ सूरि

य

यशोधर चरित्र (जसहर चरिउ)	–	पुष्पदंत
युगादि जिनचरित्र कुलक	–	जिनप्रभ सूरि
योगसार	–	योगीन्दु
	–	श्रुति कीर्ति

व

वृद्धनवकार	–	जिनवल्लभ सूरि
वज्रस्वामी चरित्र	–	जिनप्रभ सूरि (संवत् 1316 वि.)
वर्द्धमान काव्य (श्रेणिक चरित्र)	–	जयमित्र
वर्द्धमान चरित्र	–	रइधू
वरांग चरित्र	–	तेजपाल
विवेक कुलक	–	जिनप्रभ सूरि
वीर जिन पारणक	–	वर्धमान सूरि

श/ष/स

संयम मंजरी	–	महेश्वर सूरि
संभवनाथ चरित	–	तेजपाल
षट्कर्मापदेश	–	अमरकीर्ति (संवत् 1274 वि.)
श्रीपाल चरित	–	नरसेन
श्रीपाल चरित	–	रइधू
श्रावकाचार	–	देवसेन
शील संधि	–	ईश्वर गणि
शालिभद्रकक्का	–	पद्म
शांतिनाथ चरित्र	–	शुभकीर्ति
संदेश रासक	–	अब्दुल रहमान
सन्मति जिन चरित्र	–	रइधू
सुकुमाल स्वामि चरित	–	पुष्पभद्र (पूर्णभद्र)
सुदर्शन चरित्र	–	नयनन्दिनी/नयनन्दिन (संवत् 1100 वि.)
सुभद्रा चरित्र	–	अभयगणि (संवत् 1161 वि.)
स्थूलभद्र फाग	–	जिनपद्म सूरि (1257 वि.)
सिद्ध हेम शब्दानुशासन (संकलित अपभ्रंश छंद)	–	हेमचन्द

ह

हरिवंश पुराण - रइधू
- स्वयंभू और त्रिभुवन
- श्रुतिकीर्ति

यद्यपि उपर्युक्त सूची अपभ्रंश साहित्य को सम्पूर्ण नहीं दर्शाती तथापि इनसे इस साहित्य की सामान्य स्थिति का आभास लगाया जा सकता है। संधि, कुलक, चउपई, आराधना, रास, चॉसर, फाग, स्तुति, स्तोत्र, कथा, चरित, पुराण आदि विविध विधाओं में मानव जीवन और जगत् की अनेक भावनाओं और विचारों को सफलतापूर्वक इस साहित्य ने उकेरा है। इस दृष्टि से कुछेक उदाहरण यहाँ दिये जा सकते हैं -

1. **सामाण भास छुडु मा विहडउ ।**
छुडु आगम - जुति किं पिघडउ ॥
छुडु होंति सुहासिय - वयणाइ ।
गामेल्ल - भास परिहरणाइं ॥

2. **तपणु वियक्तिर तिमिर - धम्मिलु परिल्ह सिर ।**
तारय-वसण कलमलंत तरू सिहर पक्खिय ॥
परिसंदिर कुसुम-महु-विंदु मिसिणए पइं वडुक्खिय ॥

3. **श्रावणि सरवणि कंडुय मेहु**
गज्जइ, विरि हिनि झिज्जइ देहु ।
विज्जु झबक्कइ रक्खसि जेवं
नेमिहि विणु सहि सहियइ के वं ।
भ्राद्रवि भरिया सरपिक्खेवि
सकरुण रोअइ राजल देवि ॥

4. **कवि वेस चिंतइ गए - सुण्णा ।**
ये थण एयहो णहहिं ण मिण्णा ।
कावि वेस चिंतइ किं वड्ढिय ।
णीलालय एएण न किड्डिय ॥

5. **मणु मिलियउ परमेसरहो, परमेसर जि मणस्स ।**
विण्णि वि समरसि हुइ रहिय, पुंज चडावउं कस्स ॥
जो परमप्पा सो जि हउँ, जो हउँ सो परमप्प ॥

---

1. अपभ्रंष्टं तृतीयं च तदनन्तंनराधिप, खण्ड 3, अध्याय 3; दे. किं. चि अवव्भंस- क आ दा ······ अल्फेड मास्टर - BSOASXIII.2 में उद्धृत।

मंगलकलश, 394, सर्वोदय नगर
आगरा रोड, अलीगढ़ - 202001

पउमचरिउ के हिन्दी अनुवाद पर कुछ टिप्पणियाँ

- श्री देवनारायण शर्मा

अपभ्रंश महाकाव्य 'पउमचरिउ' का हिन्दी अनुवाद स्व. डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन[1] का है। डॉ. जैन अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य के प्रखर उत्साही अध्येता के रूप में स्वीकृत हैं। इस अनुवाद के क्रम में उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि "इतने बड़े कवि के काव्य का पहली बार में सर्वाङ्ग सुन्दर और शुद्ध अनुवाद हो जाना संभव नहीं है।" अतः प्रस्तुत निबन्ध में अनुवादक के दोषान्वेषण के लिए नहीं, अपितु, जिज्ञासु छात्रों एवं शिक्षकों की तृप्ति हेतु मैंने कुछ टिप्पणियाँ लिखी हैं। सम्प्रति मैंने ग्रन्थ के उसी प्रसंग पर विचार किया है जो विश्वविद्यालयों में पाठ्यांश के रूप में स्वीकृत हैं।

विचारित अंश

1. **तो तं वयणु सुनेवि कलियारउ**
   वद्धावणहँ पधाइउ णारउ ॥ 21.1.8

इस पंक्ति में 'वद्धावणहँ' पद का अर्थ 'वर्धमाननगर' किया गया है। इसप्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ - "यह जानकर कलहकारी नारद वर्धमान नगर पहुँचा" किया है। किन्तु, प्रसंग तथा मूलस्रोतों के अवलोकन से 'वद्धावणहँ' का अर्थ 'वर्धापन हेतु' होना चाहिए। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ - 'तब उस वचन को सुनकर कलहकारक नारद वर्धापन हेतु दौड़ पड़े' प्रासंगिक होगा।

2. **णन्दणु ताहें दोणु उप्पज्जइ**
   केक्कय तणय काइँ, वण्णिज्जइ ॥ 21. 2.8

यहाँ 'दोणु' का अर्थ 'दो' किया गया है। फलस्वरूप पूरी पंक्ति का अर्थ 'रानी से दो सन्तान उत्पन्न हुई, उनमें से कैकेयी वर्णन किस प्रकार किया जाय' करना पड़ा है। किन्तु, प्रसंग तथा सम्बद्ध ग्रन्थों के अनुसार 'दोणु' शब्द का अर्थ 'द्रोण' होना चाहिए। इस प्रकार पूरी पंक्ति का प्रासंगिक अर्थ होगा – उस (रानी) के 'द्रोण' नामक पुत्र और 'केकया' नाम की कन्या उत्पन्न हुई जिसका वर्णन क्या किया जाये ?

3. **'वरु आहणहों' कण्ण उद्दालहों**
रयणइँ जेम तेम महिपालहों ॥ 21.3.5

इसका हिन्दी अनुवाद किया गया है – "इस राजा से कन्या वैसे ही छीनलो, जैसे सर्प से मणि छीन लिया जाता है।" यहाँ अनुवाद पूरा का पूरा काल्पनिक हो गया है। इसका प्रासंगिक अर्थ होना चाहिए – 'वर को मार डालो और राजा के कन्यारत्न को जैसे-तैसे उड़ा लो।' यहाँ 'रयणइँ' का सम्बन्ध 'कण्ण' से है 'सर्प' से नहीं।

4. **तं णिसुर्णेवि परिओसिय-जणएँ** ॥ 21.4.1

इसका हिन्दी अनुवाद है – "यह सुनकर जनों को सन्तुष्ट करनेवाली (ने)---।" यहाँ 'जणएं' का अर्थ 'जनों को' किया गया है। वस्तुत: 'जणएं' का संस्कृत रूपान्तर 'जनकेन' होना चाहिए, इस कारण पूरे समस्त पद का प्रासंगिक अर्थ होगा – 'पिता को सन्तुष्ट करनेवाली (ने)।'

5. **दिण्णु देव पइँ मग्गमि जइयहुँ**
णियय-सच्चु पालिज्जइ तइयहुँ ॥ 21.4.5

इसका उपलब्ध हिन्दी अनुवाद है – "देव, जब मैं माँगूं तब देना, तब तक अपने सत्य का पालन करते रहिए।" यहाँ 'पइँ' का अर्थ है – 'आपने'। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ होना चाहिए – 'हे देव! आपने दिया, किन्तु, जब मैं माँगूं तब अपने वचन (सत्य) का पालन किया जाये।'

6. **जणउ वि मिहिला-णयरें पइट्ठउ**
समउ विदेहएँ रज्जें णिविट्ठउ ॥ 21.5.3

इसका उपलब्ध हिन्दी अनुवाद है – "जनक भी मिथिलापुरी में जाकर विदेह का राज्य करने लगे।" यहाँ 'विदेहएँ' पद का सम्बन्ध 'रज्जें' के साथ जोड़ दिया गया है, जब कि उसका सम्बन्ध 'समउ' के साथ होना चाहिए और 'विदेहा' (विदेहएँ) का अर्थ 'जनक (विदेह) की पत्नी' होना चाहिए, राज्य नहीं। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ होगा – जनक भी मिथिलानगर में प्रविष्ट हुए और 'विदेहा' (रानी) के साथ राज्यासीन हुए।

7. **वेढिय जणय-कणय दुप्पेच्छेंहिं**
वव्वर-सवर-पुलिन्दा-मेच्छेंहिं ॥ 21.6.1
गरुयासङ्कएँ बाल-सहायहों
लेहु विसज्जिउ दसरह-रायहों ॥ 21.6.2

इन पंक्तियों का उपलब्ध हिन्दी अनुवाद है - ''बर्बर, शबर, पुलिन्द और म्लेच्छों से अपनी सेना घिर जाने पर राजा जनक ने बहुत भारी आशंका से बालकों की सहायता के लिए राजा दशरथ के पास लेखपत्र भेजा।'' यहाँ 'कणय' शब्द की ओर दृष्टि नहीं गयी है, साथ ही 'गरुयासङ्धएँ' तथा 'बाल सहायहों' के प्रासंगिक अर्थ को भी ध्यान में नहीं रखा गया है। 'कणय' शब्द का अर्थ राजा जनक का भाई कनक 'गरुयासङ्धए' का अर्थ 'बड़े विश्वास के साथ' और 'बालसहायहों' का 'बाल्यकाल के सखा को' होना चाहिए। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों पंक्तियों का अर्थ होगा - 'दुष्प्रेक्ष्य बर्बर, शबर, पुलिन्द आदि म्लेक्षों के द्वारा जनक और कनक घेर लिये गये। तब उन्होंने बड़े विश्वास के साथ अपने बाल्यकाल के सखा राजा दशरथ को पत्र भेजा।'

8. दूसहु सो जि अण्णु पुणु लक्खणु ॥ 21.7.2

इसका उपलब्ध हिन्दी अनुवाद है - ''उनके साथ दूसरा केवल दु:सह लक्ष्मण था।'' यहाँ पंक्ति के सभी शब्दों पर ध्यान नहीं दिया जा सका है। इसका शब्दानुरूप अर्थ होगा - एक तो वे (स्वयं) ही दु:सह थे, फिर उनके साथ दूसरे लक्ष्मण भी थे। 'सो जि' का अर्थ - स: (स्वयम्) ही - 'वह (स्वयं) ही' है।

9. जणय-कणय रणें उव्वेढाविय ॥ 21.7.4

इसका उपलब्ध हिन्दी अनुवाद है - ''उन्होंने सीता का उद्धार किया।'' यहाँ 'जणय-कणय' का अर्थ 'जनक-कन्या ' समझ लिया गया है। यथार्थ में यह समस्तपद 'जनक और कनक' अर्थ रखता है। अत: इसका प्रसंगानुकूल अर्थ होना चाहिए - 'उन्होंने रण में जनक और कनक को मुक्त करा दिया।'

10. तं जइ होइ कुमारहों आयहों
तो सिय हरइ पुरन्दर-रायहों ॥ 21.10.5

इस पंक्ति का अनुवाद किया गया है - ''वही इस कुमार के योग्य है, अत: पुरन्दरराज जनक से उसका अपहरण कर लाओ।'' यहाँ 'जइ', 'होइ', 'सिय' और 'पुरन्दर-राय' पद का अर्थ ही छोड़ दिया गया है। 'जइ' का अर्थ 'यदि', 'होई' का 'हो', 'सिय' का 'श्री' (शोभा) और 'पुरन्दर-राय' का 'पुरन्दर-राज' अर्थात् देवराज इन्द्र है। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ होगा - 'वह यदि इस कुमार की हो जाये, तो यह देवराज इन्द्र की शोभा का भी अपहरण कर ले अर्थात् देवेन्द्र की शोभा भी इसके समक्ष तुच्छ हो जाये।'

11. जक्ख-सहासहुँ मुहु दरिसावइ ॥ 21.12.8

इसका उपलब्ध हिन्दी अनुवाद है - ''हजारों यक्ष भी अपना मुँह दिखाकर रह गये।'' यहाँ वाक्यरचना पर ध्यान नहीं दिया जा सका है। सावधानी से देखने पर इसका प्रासंगिक अर्थ होगा - 'सहस्रों यक्षों को अपना मुँह दिखा सके।'

12. धणुहराइँ अल्लवियइँ जक्खेंहिँ ॥ 21.13.3

इसका अनुवाद किया गया है – ''यक्षों ने दोनों धनुष बताते हुए उनसे कहा।'' यहाँ 'अल्लवियइँ' क्रियापद के अर्थ की ओर पूरा ध्यान नहीं दिया गया है। अल्लवियइँ का अर्थ है – 'अर्पित किये'। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ होगा – 'यक्षों ने (दोनों) धनुष अर्पित किये।'

13. **लक्खणहों अट्ठ परिकप्पियउ** ॥ 21.14.3

प्रस्तुत अनुवाद में इसका अर्थ है – ''शेष आठ लक्ष्मण को विवाह दीं।'' यहाँ 'परिकप्पियउ' का अर्थ होना चाहिए – 'परिकल्पित किया' अर्थात् 'निश्चय किया'। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ होगा – 'शेष आठ लक्ष्मण को देने का निश्चय किया।'

14. **दोणेण विसल्ला-सुन्दरिय**
कण्हहों चिन्तविय मणोहरिय ॥ 21.14.4

इस पंक्ति का अर्थ किया गया है – ''द्रोण ने भी अपनी सुन्दरी कन्या लक्ष्मण को विवाह दी।'' यहाँ 'चिन्तविय' पद का अर्थ 'विचार किया' अथवा 'निश्चय किया' होना चाहिए। 'विसल्ला' का रूपान्तर 'विशल्या' है। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ होगा – 'द्रोण ने भी मनोहारिणी विशल्यासुन्दरी (को) लक्ष्मण को देने का विचार किया।'

15. **पहु पभणइ रहसुच्छलिय-गत्तु** ॥ 22.1.3

इस पंक्ति का उपलब्ध अनुवाद है – ''राजा हर्ष से गद्गद स्वर में बोले।'' यहाँ 'रहसुच्छलिय-गत्तु' का अर्थ 'हर्ष से गद्गद' किया गया है, जो प्रासंगिक नहीं मालूम पड़ता। हर्ष की स्थिति में विषाद का दृश्य चौंकानेवाले होता है, हर्षित करनेवाला नहीं। अतः यहाँ 'रहसुच्छलिय-गत्तु' (रभसुच्छलित-गात्र) का अर्थ 'सहसाप्रकम्पित-शरीर' होना चाहिए। इस प्रकार प्रस्तुत पंक्ति का अर्थ होगा – 'अचानक चौंक कर राजा बोले।'

16. **गय-दन्तु अयंगमु दण्डपाणि** ॥ 22.1.8

इसका उपलब्ध अर्थ है – ''दाँत लम्बे, हाथ में दण्ड।'' यहाँ 'गय-दन्तु' का अर्थ संभवतया 'गजदन्त' किया गया है और 'अयंगमु' शब्द को सर्वथा छोड़ दिया है। 'गय-दन्तु' का प्रासंगिक अर्थ 'गत-दन्त' अर्थात् दन्तरहित होना चाहिए और 'अयंगमु' का 'अजंगम' अर्थात् चलने में असमर्थ। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ होगा – 'दन्तरहित, चलने में असमर्थ और हाथ में दण्ड लिये।'

17. **पडिहन्ति ण विज्जाहर-तियाउ** ॥ 22.5.4

प्रस्तुत पंक्ति का उपलब्ध अर्थ है – ''उसे किसी भी विचारधारा की इच्छा नहीं थी।'' यहाँ 'पडिहन्ति ण' का अर्थ है – 'नहीं भाती है' और 'विज्जाहरतियाउ' का 'विद्याधर-कामिनियाँ'। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ होना चाहिए – 'विद्याधर-कामिनियाँ उसे नहीं भाती हैं (थीं)।'

18. **अच्छहु पुणु वि घरें सत्तुहणु रामु हउँ लक्खणु ।**
अलिउ म होहि तुहुँ महि भुञ्जें भडारा अप्पुणु ॥ 22.10.9

इसका उपलब्ध अनुवाद है – ''अथवा आप घर पर ही रहें, शत्रुघ्न, राम, लक्ष्मण और मैं वन को जाते हैं।'' यहाँ 'अच्छहु' क्रियापद का अर्थ है – 'रहें' और 'पुणुवि' अव्ययपद निश्चयसूचक है। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ होना चाहिए – शत्रुघ्न, राम, लक्ष्मण और मैं सबके सब घर पर ही रहें। भट्टारक! आप भी असत्यवादी न बनें, आप स्वयं राज्य का भोग करें।''

19. णीलक्खण णीरामुम्माहिय ॥ 23.4.5

इस पंक्ति का उपलब्ध हिन्दी अनुवाद है – ''उसकी आँखें नीली और अश्रुजल से डबडबाई हुई थीं। यहाँ 'णीलक्खण' का अर्थ है – 'निर्लक्षण' अर्थात् शुभलक्षणरहित तथा 'णीरामुम्माहिय' का 'नितरामुन्माधित' अर्थात् सर्वथाविनष्ट। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ होना चाहिए – 'शुभ लक्षणरहित तथा सर्वथाविनष्ट।'

20. हरि-वल जन्त णिवारहि णरवइ ॥ 23.5.10

इसका अर्थ किया गया है – ''जाती हुई राम की सेना को रोको।'' यहाँ 'हरि-वल' का अर्थ होना चाहिए – लक्षमण और राम, 'जन्त' का 'जाते हुए' तथा 'णरवइ' का 'नरपति'। इस प्रकार पंक्ति का स्पष्ट अर्थ होगा – 'हे नरपति! आप जाते हुए लक्ष्मण और राम को रोकें ।' उपलब्ध हिन्दी-अनुवाद में 'हरि-वल' का अर्थ 'राम की सेना' ले लिया गया है, जो प्रासंगिक नहीं है।

21. राय-वारु वलु वोलिउ जावेंहिं
लक्खणु मणें आरोसिउ तावेंहिं ॥ 23.7.1

इसका उपलब्ध हिन्दी अनुवाद है – ''राम के राजाज्ञा सुनाते ही लक्ष्मण को मन ही मन असह्य वेदना हुई''। यहाँ 'राय-वारु' का अर्थ है – 'राजद्वार' अर्थात् राजभवन का मुख्यद्वार, 'वलु' का 'राम', 'वोलिउ' का 'पार किया' और 'आरोसिउ' का 'आरुष्ट'। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ हुआ – 'राम ने राजभवन के मुख्यद्वार को ज्योंहि पार किया, त्योंही लक्ष्मण अन्तः करण से (में) क्रुद्ध हो उठे'।

22. णाइँ मइन्दु महा-घण-गज्जिएँ
तिह सोमित्ति कुविउ गमें सज्जिएँ ॥ 23.7.3

इस पंक्ति का उपलब्ध अनुवाद है – ''जैसे महामेघ गरजते हैं, वैसे ही लक्ष्मण जाने की तैयारी करने लगा।'' यहाँ 'मइन्दु' का अर्थ 'मृगेन्द्र', 'महाघणगज्जिए' का 'घोर घन-गर्जना पर' और 'कुविउ' का अर्थ 'क्रुद्ध' है। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ होगा – 'घोर घन-गर्जना पर उत्तेजित मृगेन्द्र की तरह राम के वनगमन हेतु उद्यत हो चुकने पर लक्ष्मण क्रुद्ध हो उठे।'

23. कें पलयाणलें अप्पउ ढोइउ
कें आरुट्ठउ सणि अवलोइउ ॥ 23.7.5

इसका अर्थ किया गया है – ''प्रलय-काल में कौन अपने को बचा सका है, शनि को देखकर कौन उचित हो सका है।'' यहाँ 'पलयाणले' का अर्थ 'प्रलयानल में' 'ढोइउ' का 'अर्पित,

'आरुट्ठउ' का 'आरुष्ट' और 'अवलोइउ' का अर्थ 'अवलोकित' है। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ होना चाहिए – ''किसने प्रलयानल में अपने को अर्पित कर दिया है, किसने आरुष्ट शनिग्रह पर दृष्टि डाली है।''

24. कें जिउ कालु-कियन्तु महाहवें ॥ 23.7.8

इस पंक्ति का उपलब्ध अनुवाद है – ''यम का काल पूरा हो चुकने पर महायुद्ध में कौन बचा सकता है।'' यहाँ अर्थ में काल्पनिकता आ गयी है। वस्तुत: 'कें' का अर्थ 'किसने', 'जिउ' का 'जीत लिया', 'कालु' का 'काल' और 'कियन्तु' का 'कृतान्त' (यम) है। इस प्रकार पूरी पंक्ति का हिन्दी अनुवाद होना चाहिए – 'किसने महायुद्ध में काल और कृतान्त को जीत लिया।'

25. जसु पडन्ति गिरि सिंह-णाएँणं ॥ 23.8.4

इसका अनुवाद किया गया है – ''पहाड़, सिंह और हाथी तक गिर पड़ते हैं''। यहाँ भी अनुवाद की शिथिलता चिन्तनीय है। इस प्रसंग में 'जसु' का अर्थ 'जिसके', 'पडन्ति' का 'गिर जाते हैं', 'गिरि' का 'पर्वत' और 'सिंह-णाएँणं' का अर्थ 'सिंहनाद से' है। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ हुआ – 'जिसके सिंहनाद से पर्वत गिर जाते हैं अर्थात् धराशायी हो जाते हैं।'

26. धणएँ रिद्धि सोहग्गु वम्महें ॥ 23.8.7

इसका उपलब्ध हिन्दी अनुवाद है – ''धन में रिद्धि, वामा में सौभाग्य''। यथार्थ में 'धणएँ' का अर्थ 'धनद (कुबेर) में' और 'वम्महे' का 'मन्मथ (कामदेव) में' होना चाहिए। इस प्रकार पंक्ति का अर्थ होगा – 'धनद में ऋद्धि (विभूति) और मन्मथ में सौभाग्य (लावण्य)।'

27. रज्जें किज्जइ काइँ तायहों सच्च-विणासें ॥ 23.8.9

पंक्ति का उपलब्ध अनुवाद है – ''तातनाशक राज्य के करने से क्या? यहाँ 'सच्च' शब्द सर्वथा उपेक्षित है, जिस कारण अर्थ में विकृति आ गयी है। इसके ग्रहण करने पर अर्थ होगा – पिता के सत्य (वचन) को विनष्ट करनेवाले राज्य से क्या प्रयोजन ?

28. जगु गिलेइ णं सुत्तु महाइय ॥ 23.9.4

इस पंक्ति का अर्थ किया गया है – ''मानो वरिष्ठ उसने सोते हुए विश्व को लील लिया हो।'' यहाँ पंक्ति के अन्तर्गत शब्दों के अन्वय पर समुचित ध्यान नहीं रखा गया है, जिस कारण अर्थ की संगति नहीं बैठ पाई है। अन्वय के अनुसार इसका अर्थ होना चाहिए – 'मानो महादृता (गरिष्ठा) कालरात्री जग (विश्व) को निगलकर सो गयी हो।'

29. वासुएव-बलएव महव्वल साहम्मिय साहम्मिय-वच्छल ॥
रण-भर-णिव्वाहण णिव्वाहण णिग्गय णीसाहण णीसाहण ॥ 23.9.7-8

प्रस्तुत पंक्तियों का उपलब्ध अनुवाद है – ''तो महाबली, युद्धभार उठाने में समर्थ राम और लक्ष्मण ने माताओं तथा स्नेहीजनों से विदा माँगी और सवारी, शृङ्गार तथा प्रसाधन से हीन (निकले)। यहाँ प्रथमचरण का अर्थ तो 'महाबली राम और लक्ष्मण' ठीक ही है, किन्तु, अन्य का अर्थ यथार्थता के समीप नहीं रह गया है। 'पउमचरिउ' के प्रासंगिक टिप्पण के अनुसार

'साहम्मिय' का अर्थ है – विभिन्न माताओं से उत्पन्न अर्थात् सौतेले भाई और सामान्य अर्थ है – साधर्मी (समानधर्मी)। इस प्रकार इन पंक्तियों का प्रासंगिक अर्थ होना चाहिए – 'महाबली राम और लक्ष्मण, जो परस्पर साधर्मी (सौतेले भाई), साधर्मियों के प्रति स्नेहभाव रखनेवाले तथा रणभार के निर्वाहक हैं, वे बिना वाहन, बिना साधन और बिना सैन्य के निकल पड़े।'

30. जं पायार-वार-विप्फुरियउ
पोत्थासित्थ-गन्थ-वित्थरियउ ॥ 23.9.10

इसका उपलब्ध हिन्दी अनुवाद है – "वह मंदिर परकोटा और द्वारों से शोभित और पोथियों तथा ग्रन्थों से भरा था।" यहाँ द्वितीय चरण का अनुवाद शब्दार्थ के अनुरूप नहीं हुआ है। 'पोत्थासित्थ' पद का प्रासंगिक अर्थ – 'वस्त्र से लिपटे हुए' होना चाहिए। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ होगा – 'जो (जिन-मंदिर) प्राकार और द्वारों से उद्भासित तथा वस्त्रावृत ग्रन्थों से विस्तारित था।'

31. जय धम्म-महारह-वीढें ठिय
जय सिद्धि-वरङ्गण-रण्ण-पिय ॥ 23.10.6

इसका पंक्ति का उपलब्ध हिन्दी अनुवाद है – "धर्मरूपी महारथ की पीठ पर स्थित आपकी जय हो। सिद्धिरूपी वधू के अत्यन्त प्रिय आपकी जय हो।" प्रस्तुत पंक्ति में 'रण्ण' शब्द विचारणीय है। लक्षणा से 'रण्ण' का अर्थ 'एकान्त' अथवा 'अत्यन्त' भी हो सकता है। किन्तु, यहाँ जिनेश्वर की वन्दना के क्रम में उनकी उपमा पूर्णतया आदित्य (सूर्य) से दी गयी है। अतः यहाँ 'रण्ण' का अर्थ रत्ना (आदित्य-भार्या) होना चाहिए। इस प्रकार पूरी पंक्ति का प्रासंगिक अर्थ होगा – धर्मरूपी महान् रथ पर आरूढ आपकी जय हो, सिद्धि-कामिनीरूपी रत्ना के प्रिय आपकी जय हो।"

32. सर हुङ्कार-सार मेल्लन्तइँ
गरुअ-पहारह उस उड्डन्तइँ ॥ 23.11.4

इसका हिन्दी अनुवाद किया गया है – "हुंकार करने में श्रेष्ठ वे कामोत्पादक शब्द कर रहे थे, गुरु प्रहार से वे उसे उड़ा रहे थे। यहाँ भी अनुवाद में शिथिलता हुई है। प्रसंगानुसार 'सर' का अर्थ 'स्मर' (काम), 'सार' का 'स्वर' और 'उरु' का 'जंघा' है। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ होना चाहिए – 'वे कामजन्य हुंकार स्वर छोड़ रहे थे और भारी आघातों से जंघाओं को उड़ा रहे थे।'

33. जे वि रमन्ता आसि लक्खण-रामहुं संकेवि।
णावइ सुरयासत्त आवण थिय मुहु ढङ्केवि ॥ 23.11.9

प्रस्तुत घत्ता का उपलब्ध हिन्दी अनुवाद है – "सुरतासक्त रमण करती हुई जितनी भी आपणस्त्रियों थी, राम-लक्ष्मण की आशंका से मानो वे मुँह ढककर रह गई।" यहाँ अनुवाद में न शब्दार्थ पर दृष्टि रखी गयी है और न उनके अन्वय पर। इसका प्रासंगिक अर्थ होना चाहिए – 'जो भी (स्त्री-पुरुष) कामक्रीड़ा में अनुरक्त थे, वे लक्ष्मण और राम की आशंका से मुँह ढककर निश्चल हो गये, मानो, सुरतासक्त आपण ही निश्चल हो गया हो।'

34. णिसि-णिसियरिएँ आसि जं गिलियउ
णाइँ पडीवउ जउ उग्गिलियउ ॥ 23.12.6

इसका उपलब्ध अनुवाद है – ''रातरूपी निशाचरी ने जो सूरज को पहले निगल लिया था, उसने अब उसे उगल दिया।'' यहाँ 'जउ' पद विचारणीय है, जिसकी उपेक्षा हुई है। प्रसंगानुसार 'जउ' का अर्थ यहाँ 'जगत' होना चाहिए। इस तरह पूरी पंक्ति का अर्थ होगा – निशारूपी निशाचरी ने जिसे (पहले) निगल लिया था, उस अप्रिय (अरुचिकर) जगत् को मानो उसने (अब) उगल दिया।

35. रेहइ सूर-विम्वु उग्गन्तउ
णावइ सुकइ-कव्वु पह-वन्तउ ॥ 23.12.7

इसका हिन्दी अनुवाद उपलब्ध नहीं है। इसका अनुवाद होना चाहिए – 'सुकवि के सुअलंकृत काव्य की तरह मानो उदीयमान सूर्य-बिम्ब सुशोभित हो रहा है।'

36. हेसन्त-तुरङ्गम-वाहणेण
परियरिउ रामु णियसाहणेण ॥ 23.13.1

इसका अर्थ किया गया है – ''राम हँसते हुए घोड़ों की सवारी से सहित अपनी सेना से घिर गये।'' यहाँ 'हेसन्त' का अर्थ प्रसंगानुसार 'हींसते हुए' (हिन्-हिन् शब्द करते हुए) होना चाहिए। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ होगा – हिन्-हिन् शब्दों से पूर्ण अपने अश्वारोही सैन्य से राम घिर गये।

37. कारण्ड-डिम्भ-डुम्भिय-सरोह
वर-कमल-करम्बिय-जलपओह ॥ 23.13.5

इस पंक्ति का उपलब्ध अनुवाद है – ''तरंगमाला गजशिशुओं से आन्दोलित हो रही थी। जलप्रवाह कमलों के समूह से भरा हुआ था। प्रसंगानुसार यहाँ 'कारण्ड' शब्द का अर्थ 'पक्षी विशेष' होना चाहिए 'गज' नहीं। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ होगा – (जहाँ) कारण्ड-शिशुओं से विदोलित तरंग-संघात तथा प्रशस्त कमलों से व्याप्त जलप्रवाह।

38. हंसावलि-पक्ख-समुल्हसन्ति
कल्लोल-वोल-आवत्त दिन्ति ॥ 23.13.6

इसका पंक्ति का उपलब्ध हिन्दी अनुवाद है – ''हंसमाला के पंख उसमें उल्लसित हो रहे थे। तरंगों के प्रहार से आवर्त पड़ रहे थे।'' यहाँ दूसरे चरण की अर्थ-व्यवस्था पूरी शिथिल हो गयी है। प्रसंगानुसार 'कल्लोल' का अर्थ 'तरंग', 'बोल' का 'व्यतिक्रम' और 'आवत्त' का 'चक्राकार परिभ्रमण' होना चाहिए। यों 'पउमचरिउ' की शब्द सूची के अनुसार 'वोल' का अर्थ 'समूह' है। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ होगा – '(जहां) हंससमूह पंखों को ऊपर उठाये कल्लोल-माला का चक्राकार परिभ्रमण कर रहा था।'

39. ओहर-मयर-रउद्द सा सरि णयण-कडक्खिय ।
दुत्तर-दुप्पइसार णं दुग्गइ दुप्पेक्खिय ॥ 23.13.9

प्रस्तुत 'घत्ता' का अर्थ किया गया है - "ओहर और मगरों से भयंकर और दुष्प्रवेश्य उस नदी को राम ने ऐसे देखा मानो वह दुर्गति हो।" यहाँ भी अर्थव्यवस्था में शिथिलता आ गयी है। प्रसंगानुसार 'णयण-कडविलय' का अर्थ 'तिरछी आँखों से देखी गयी' तथा 'दुप्पेक्खिय' का 'अवज्ञापूर्वक अवलोकित हुई' होना चाहिए। इस प्रकार सम्पूर्ण घत्ता का अर्थ होगा - 'ओहर तथा मगर-मच्छों से भयावनी वह नदी तिरछी आँखों से देखी गयी, मानो, दुस्तर तथा दुष्प्रवेश्य दुर्गति (नरकगति) ही उपेक्षापूर्वक देखी गयी हो।'

40. तुम्हेंहिँ एवहिँ आणवडिच्छा ।
भरहहों भिच्च होह हियइच्छा ॥ 23.14.2

इस पंक्ति का उपलब्ध अर्थ है - "आज्ञापालक तुम लोग आज से भरत के सैनिक बनो।" यहाँ अनुवाद कुछ काल्पनिक-सा हो गया है। प्रसंगानुरूप 'एवहिँ' का अर्थ 'इसी प्रकार', 'आणवडिच्छा' (आज्ञप्रतीक्षका:) का आज्ञाकारी, भिच्च (भृत्य) का 'सेवक' तथा 'हियइच्छा' (हृदयेष्टा:) का मनोभिलषित होना चाहिए। इस प्रकार पूरी पंक्ति का प्रासंगिक अर्थ होगा - तुम लोग इसी प्रकार भरत के भी मनोभिलषित आज्ञाकारी सेवक होवो।

41. लहु जलवाहिणि-पुलिणु पवण्णइँ ।
णं भवियइँ णरयहों उत्तिण्णइँ ॥ 23.14.8

इसका उपलब्ध हिन्दी अनुवाद है - "शीघ्र ही वे नदी के दूसरे तट पर पहुँच गये मानो भव्यों ही को नरक से किसी ने तार दिया हो।" यहाँ दूसरे चरण की अर्थ-व्यवस्था थोड़ी शिथिल हो गई है। प्रसंगानुकूल इस पंक्ति का स्पष्ट अर्थ होना चाहिए - 'वे शीघ्र ही नदी के (दूसरे) तट पर पहुँच गये, मानो भव्यजन (शीघ्र ही) दुर्गति (नरक गति) के पार हो गये हों।'

42. वलिय पडीवा जोह जे पहु-पच्छलें लग्गा ।
कु-मुणि कु-बुद्धि कु-सील णं पव्वज्जहें भग्गा ॥ 23.14.9

प्रस्तुत घत्ता का अर्थ किया गया है - "राम के पीछे लगे योधा-लोग भी अयोध्या के लिए उसी प्रकार लौट गये जिस प्रकार संन्यास ग्रहण करने पर कुमति, कुशील और कुबुद्धि भाग खड़ी होती है।" यहाँ भी अर्थव्यवस्था भावुकता के कारण शिथिल हो गयी है। प्रसंगानुसार इन पंक्तियों का अर्थ होना चाहिए - 'वे सभी योद्धा वापस लौट गये जो (अभी तक) प्रभु (राम) के पीछे लगे हुए थे। मानो कुबुद्धि एवं कुत्सित चरित्रवाले मिथ्यादृष्टि मुनि प्रव्रज्या से भाग खड़े हुए हों।'

43. वलु वोलावेंवि राय णियत्ता ।
णावइ सिद्धि कु-सिद्ध ण पत्ता ॥ 23.15.1

इस पंक्ति का हिन्दी अनुवाद है - "राम को विदा देते हुए राजा लोग बहुत व्यथित हुए। ठीक उसी तरह जिस प्रकार सिद्धि प्राप्त न होने पर खोटे साधक दुखी होते हैं।" यथार्थत: प्रस्तुत पंक्ति में व्यथा तथा दु:ख-सूचक कोई शब्द ही नहीं है। इसका प्रासंगिक अर्थ होना चाहिए - 'राम को विदा देकर राजा लोग लौट गये, मानो, मिथ्याभिमानी सिद्धों को सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकी।'

44. वलिय के वि णीसासु मुअन्ता ।
खणें खणें 'हा हा राम' भणन्ता ।। 23.15.2

इस पंक्ति का उपलब्ध हिन्दी अनुवाद है - ''कोई निःश्वास छोड़ रहा था। कोई 'हाराम' कहता-कहता लौट रहा था।'' प्रसंगानुरूप इसका स्पष्ट अर्थ होना चाहिए - कितने निःश्वास छोड़ते हुए और क्षण-क्षण 'हाराम हाराम' कहते हुए लौटे।

45. के वि महन्तें दुक्खे लइया ।
लोउ करेवि के वि पव्वइया ।। 23.15.3

इसका उपलब्ध अर्थ है - ''कोई घोर दुःख पाकर प्रव्रजित हो गये।'' यह अनुवाद अधूरा हो गया है। इसका पूर्ण स्पष्ट अनुवाद होना चाहिए - कितने (लोग) भारी दुःखग्रस्त हो गये और कितनों ने प्रव्रज्याग्रहण कर ली।

अन्ततः मेरा यह निस्संकोच निवेदन है कि ऊपर मैंने अपने स्वाध्याय और अनुभव की सीमा में कुछ विनम्र टिप्पणियाँ की है, किन्तु, ज्ञान का क्षेत्र असीम है, जहाँ कोई लक्ष्मण-रेखा नहीं होती।

---

1. पउमचरिउ, महाकवि स्वयंभू, संपा-अनु. - देवेन्द्रकुमार जैन, प्र. - भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।

ग्राम - रहुआ
पो. - मुसहरी फॉर्म
जि. - मुजफ्फरपुर, बिहार
पिन - 843154

करकंडचरिउ में निदर्शित व्यसन-मुक्ति-स्वर की वर्तमान सन्दर्भ में उपयोगिता

– डॉ. (कु.) आराधना जैन 'स्वतंत्र'

भारतीय सामाजिक, धार्मिक आचार-संहिता में जहाँ महापाप-रूप दुराचार से परहेज किया गया है वहीं पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक संस्कृति/परम्परा में सदाचार की आवश्यकता और महत्व सहज स्वीकार किया गया है। इसीलिए भारतीय संतों, नीतिकारों, साहित्यकारों ने अपने उपदेशों द्वारा, साहित्य-सृजन द्वारा सदाचारमय जीवन जीने की प्रेरणा दी है जिससे मानव सभ्य सामाजिक जीवन की स्थापना के साथ खतरनाक बाधाओं से भी मुक्त रहे। उसे दुराचार/अनैतिक दुष्कृत्यों के दुष्प्रभावों को हृदयंगम कराते हुए उनसे बचने की प्रेरणा/सुझाव भी दिये हैं। इसका मूल कारण है कि वे जनजीवन के चारित्रिक एवं नैतिक स्तर को उन्नत करने के आकांक्षी थे। भारतीय संत परम्परा में जैनाचार्यों/नीतिकारों/विद्वानों/लेखकों ने सदाचार की प्ररूपणा करनेवाले श्रमणाचार/श्रावकाचार ग्रन्थों का प्रणयन किया है, ग्रन्थों की टीकाएं की हैं, सुभाषितों के माध्यम से उसे स्पष्ट किया है तथा कथाओं के माध्यम से भी सदाचार के महत्त्व का प्रतिपादन कर दिया है। ऐसे ही एक कवि हैं मुनि कनकामर, जिन्होंने अपभ्रंश में करकंडचरिउ[1] काव्य की रचना-कर पाठकों को साहित्य का रसास्वादन तो कराया ही है साथ ही उसे नीति, सदाचार एवं धार्मिक तत्त्वों से पुष्टकर अमानवीय, असामाजिक, अनैतिक, हिंसक आचरण को छोड़कर मानवीय सत्य आचरण अपना कर सुखी एवं स्वस्थ जीवन-निर्माण हेतु निदर्शन दिया है।

द्वादश अनुप्रेक्षाओं का मन में स्मरण करते हुए जब करकण्ड नन्दन वन में पहुँचते हैं तब वहाँ उन्हें शीलगुप्त मुनिराज के दर्शन होते हैं। वे मुनिवर का गुणस्तवन तथा चरण-वन्दनाकर उनके आगे बैठकर निवेदन करते हैं –

सो भणइ भडारा हरियछम्मु महो को वि पयासहि परम धम्मु ।
घत्ता - **जे कियइ पणासइ दुहणिवहु परिवड्ढइ सिवसुहु अणुवमउ ।**
तं कहहि भडारा करुण करि इयलोयहं भव्वहं सग्गमउ ॥ 9.19॥

- हे भट्टारक, मुझे अज्ञान को दूर करनेवाला परम धर्म समझाइये जिसके करने से दु:ख का समूह नष्ट हो और अनुपम मोक्ष सुख की वृद्धि हो। हे भट्टारक, करुणा कर ऐसा धर्म कहिए जो लोकमात्र को हितकारी और भव्यों को सद्‌गमनकारी (स्वर्गमय) हो।

करकण्ड का वचन सुनकर मुनिवर उसे श्रावक-धर्म और मुनि-धर्म समझाते हैं। श्रावक-धर्म के अन्तर्गत वे गृहस्थ को षट्‌कर्म सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताकर सुख की उपलब्धि का मार्ग प्रशस्त करते हैं -

णं वि खेलइ जूउ णं पियइ सीहु, जो होसइ मंसहो णरु णिरीहु ।
जो वज्जइ वेसा णयणरम्म, पारद्धि णं खेलइ जो अहम्म ।
जो हरइ णं परधणु णरु कया वि, दूराउ विवज्जइ परतिया वि ।
घत्ता - **जो सत्तविवसणइं परिहरइ बिसत रूवरू जह सव्वायरइँ ।**
सो सोक्ख णिरंतर अणुहवइ ण वि खज्जइ दुक्खणिसायरइँ ॥ 9.2.16-18॥

- जो न जुआ खेलता है, न मदिरा पीता है, मांस की इच्छा नहीं रखता है, नयनरम्य वेश्या का त्याग करता है, जो अधर्मरूप आखेट नहीं खेलता, जो नर पराया धन कदापि हरण नहीं करता एवं परस्त्री का दूर से ही त्याग करता है, इस प्रकार जो सातों व्यसनों का विषवृक्ष के समान परिहरण करता है वह निरन्तर सुखों का अनुभव करता है एवं दु:खरूपी निशाचर का भक्ष्य नहीं बनता है।

यहाँ पर कवि ने व्यसनों को विष-वृक्ष की उपमा दी है। जैसे विषवृक्ष और उसके फल दूसरों के जीवन को समाप्त कर देते हैं उसी तरह ये व्यसन व्यसनी व्यक्ति का जीवन तो बरबाद कर ही देते हैं उसके परिवार को भी संकटों में डाल देते हैं।

अत: सर्वप्रथम व्यसन के स्वरूप, व्यसनी बनने के कारण, उसके सेवन से होनेवाले दुष्प्रभावों को जानना आवश्यक है।

सामान्यत: व्यसन उन बुरी आदतों को कहा जाता है जो मानव के तन-मन को जर्जर, रोगग्रस्त और पराधीन बनाने के साथ परिवार को तहस-नहस कर देता है। व्यसन सात हैं - जुआ खेलना, मदिरा पीना, मांस भक्षण, शिकार खेलना, चोरी करना, वेश्या गमन और परस्त्री रमण। हार-जीत की शर्त लगाकर ताश, शतरंज खेलना, लाटरी, सट्टा लगाना आदि जुआ खेलना कहलाता है। एल्कोहलयुक्त तथा अन्य मादक द्रव्यों का सेवन मदिरापान कहलाता है। जीवों का मांस खाना मांस-भक्षण है। वन्य प्राणियों का शिकार करना आखेट/शिकार खेलना है। परधन के आहरण को चोरी से अभिहित किया जाता है। गणिका से सम्बन्ध वेश्यागमन और अपनी स्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों पर कुदृष्टि डालना/सम्पर्क रखना परस्त्री रमण कहा जाता है।

मानव इन व्यसनों का शिकार क्यों हो जाता है ? इसके कई कारण हैं - वह व्यसनों को खुशी की वृद्धि करनेवाला माध्यम समझकर, कुछ समय तक ग़मों, घर की तनावग्रस्त स्थितियों

से छुटकारा पाने के लिए, मनोरंजन के हेतु, उत्सुकता-जिज्ञासा के कारण, घर में बड़े बुजुर्गों की कुटेव देखकर, पिता/पालक की अपनी संतान के प्रति लापरवाही से, कुसंगति में फँसने के कारण, कभी किसी के दबाव में आकर, पाश्चात्य सभ्यता, टीवी आदि के प्रभाव के कारण भी व्यसनी बन जाता है। वर्तमान में स्वयं को आधुनिक, विकसित कहलाने के लिए भी व्यक्ति व्यसन का सेवन करने लगता है और जीवन को सुख-शांतिपूर्ण बनानेवाले नैतिक मानवीय सदाचार को रूढ़िवाद समझ कर उनसे मुख मोड़ लेता है।

व्यसन कोई भी हो, व्यक्ति शान से आरम्भ करता है और अन्त में उसका नाश हो जाता है। इसलिए सबके कल्याण की भावना से ओत-प्रोत संतों, ऋषि-महर्षियों, नीतिकारों, उपदेशकों ने व्यसन से विरत होने की प्रेरणा दी है। ये व्यसन मानव के लिए किस प्रकार हानिकारक हैं, जानने का प्रयास करें।

व्यसन शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक दृष्टि से हानिकारक हैं। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' तथा 'पहला सुख निरोगी काया' उक्ति के अनुसार सुखी जीवन के लिए शरीर का स्वस्थ होना आवश्यक है। प्रकृति के अनुकूल आहार-विहार एवं संयमित-नियमित जीवनचर्या ही शरीर को रोगमुक्त रखने का सच्चा उपाय है। व्यसन अमर्यादित-उच्छृंखल आहार-विहार की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देकर शरीर को रोगी बना देता है। जुआ, सट्टा, चोरी आदि व्यसन प्रत्यक्षरूप से शारीरिक रोगों के नहीं वरन् मानसिक रोगों के कारण हैं। ये चिन्ता, भय, तनाव, मनस्ताप को जन्म देते हैं, फलस्वरूप स्नायुतंत्र, रक्त-परिवहन संस्थान और पाचन-तंत्र प्रभावित होता है जिससे कब्ज, अल्सर, बवासीर, उच्च रक्तचाप, हृदयाघात जैसे अनेक रोग पैदा हो जाते हैं। मादक पदार्थों के सेवन एवं मांस-भक्षण से सर्वप्रथम पाचनतंत्र पर असर पड़ता है। मादक पदार्थों में विद्यमान अल्कोहल छोटी आँत, बड़ी आँत के लिए तो घातक है ही, मस्तिष्क की चेतना-शक्ति को भी प्रभावित करता है जो मस्तिष्क के रोगों का, कैंसर का एवं वंश-विकृति का भी कारण है। यह व्यक्ति को रोगी, परिवार को कष्ट-भोगी बनाता है, यह राष्ट्र की जर्जर स्थिति का कारण है। अण्डे और मांस को पौष्टिक आहार बतलाकर उसके सेवन के लिए अवैज्ञानिक विज्ञापन किया जा रहा है। जब इसका जैव रासायनिक विश्लेषण किया जाता है तो ज्ञात होता है कि मांस में प्रोटीन की तुलना में कार्बोहाइड्रेट न के बराबर है जिससे डी.एन.ए. और आर.एन.ए. असन्तुलित हो जाते हैं और कोलेस्ट्रोल की मात्रा अधिक बढ़ जाती है। अण्डे में भी कोलेस्ट्रोल की मात्रा अधिक होती है। मांस और अण्डे दोनों में ही प्रोटीन की मात्रा कम होती है। अतः इन दोनों का भक्षण मिर्गी, उच्च रक्तचाप, दिल का दौरा, गुर्दे व पित्त की थैली में पथरी, आँत के कैंसर जैसे रोगों का जनक है। अण्डे में उपस्थित 30 प्रतिशत डी.डी.टी. लकवा रोग का कारण है। अण्डे की सफेदी का 'एवीडीन' नामक ज़हर एक्जीमा, लकवा और सूजन पैदा करता है। मुर्गियों एवं पशुओं में हो रही बीमारियाँ उनके अण्डे और मांस के माध्यम से उनके भक्षण करनेवालों तक पहुँच जाती हैं। इनमें टी.बी. प्रमुख है। इस प्रकार मादक पदार्थों का सेवन एवं मांस-भक्षण शारीरिक दृष्टि से हानिकारक है। वेश्यावृत्ति एवं परस्त्री सेवन/अवैध सम्बन्ध जैसे व्यसन/दुष्कृत्य सूजाक, अपदंश, एड्स आदि घातक लैंगिक संक्रामक रोगों का

कारण है जिससे जिन्दगी और मौत की कराहती वेदनापूर्ण स्थिति बनती है। अनैतिक सम्बन्ध से प्राप्त गर्भ रोकने के लिए गर्भनिरोधक दवाओं का प्रयोग भी महिलाओं में व्यसन बन गया है जो हानिकारक है। गर्भ-निरोधक गोलियों में पाये जानेवाले स्ट्रोजन और पोजेस्ट्रोजन पदार्थ से वजन का बढ़ना, स्तन-दर्द, स्तन-कैंसर, गंजापन, सिरदर्द, मसूढ़ों में दर्द/सूजन, योनि से स्राव और रक्तवाहिनियों में अवरोध पैदा होता है। चोरी की आदत चोर को भय, चिन्ता एवं तनावग्रस्त कर देती है जिससे व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से कमजोर हो जाता है। 'शिकार खेलने' का व्यसन भी श्रमसाध्य और क्लेश पैदा करनेवाला है। इससे क्रूर परिणाम होते हैं जिससे रक्त में रासायनिक परिवर्तन होते हैं शरीर में क्षार की मात्रा की कमी और अम्ल की मात्रा में वृद्धि होती है; परिणामस्वरूप अम्लजन्य रोगों का जन्म होता है। इस प्रकार सभी व्यसन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं।[3]

व्यसनों से जुड़ा व्यक्ति तनावयुक्त होता है। तनाव से भयग्रस्त और चिन्ताग्रस्त हो जाता है। ऐसा व्यक्ति समाज में मान-सम्मान की आकांक्षा करता है और वह प्रतिष्ठा-हानि से भयभीत रहता है। प्रतिकूल परिस्थितियाँ मनस्ताप व विक्षिप्तता की जन्मदायक है। चरम आकांक्षा, अवांछित परिस्थितियाँ, हानि, असम्मान ही मनस्ताप को उत्पन्नकर व्यक्ति को विक्षिप्तता तक पहुँचा देते हैं। यह व्यक्ति को शारीरिकरूप से तो जर्जर बना ही देते हैं, निराशा पैदाकर व्यक्ति को आत्महत्या की ओर भी ले जाते हैं और उसका दर्दनाक अन्त हो जाता है।

व्यसनों के कारण मानव की वृत्तियाँ तामसिक हो जाती हैं। तामसिक वृत्ति के फलस्वरूप वह भोग-विलासिता की ओर अग्रसर होता है। मान की भावना में वृद्धि होती है और स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए नित्य नये फैशन को अपनाता जाता है। विलासिता की प्रवृत्ति उसके स्वयं के तथा परिवार, समाज एवं राष्ट्र के विकास में अवरोधक है।

किसी भी परिवार, समाज और राष्ट्र की संतुलित अर्थ-व्यवस्था उसकी 'रीढ़/आधार' होती है। व्यसनों के कारण अर्थव्यवस्था पर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष-रूप से आघात पहुँचता है। जुआ-लाटरी आदि में जीतने पर प्राप्त आय से अनावश्यक खर्च और विलासिता की प्रवृत्ति बढ़ती है। यदि जुआ आदि में हारने पर आय के स्रोत बन्द हो जाते हैं तो खर्च में कटौती करनी पड़ती है जो पारिवारिक कलह का कारण बनता है और परिवार के लिए कष्टदायी भी। मादक द्रव्यों का सेवन अत्यन्त मँहगा होता है, बारम्बार प्रयोग से अर्थव्यवस्था लचर-पचर हो जाती है। आय के स्रोत सीमित हो या असीमित, मद्यपान व्यक्ति को निर्धनता, अभावों और कलहपूर्ण जीवन जीने के लिए मजबूर कर देता है। मांसाहार रोगों का जनक एवं मँहगा आहार है। आज भारत सरकार अधिकतम विदेशी मुद्रा-अर्जन हेतु देश में कत्लखानों की संख्या बढ़ा रही है पर इससे आय कम और पशुवध की हानि अधिक हो रही है। उदाहरणार्थ - पाँच करोड़ रुपये की आय प्राप्त करने के लिए नौ लाख बारह हजार भैंसें और अट्ठाईस लाख पच्चीस हजार भेड़ों का वध करना पड़ता है इससे पाँच सौ करोड़ की हानि होती है।[4] परस्त्री/अवैध सम्बन्ध और वेश्यावृत्ति/देह व्यापार का भी सीधा सम्बन्ध है अर्थ-व्यवस्था से। चोरी, तस्करी राष्ट्र का आर्थिक अपराध

है जो हिंसा, युद्ध, शोषण, अराजकता की बुनियाद खड़ी करता है। शिकार पर्यावरण प्रदूषण का कारण है। इससे वन्य प्राणियों की दुर्लभ जातियाँ समाप्त हो जाती हैं। ये हमारे जीवन के अस्तित्व के लिए खतरा है और राष्ट्रीय सम्पत्ति को क्षति उठानी पड़ती है।[5] व्यसन व्यक्ति की दिनचर्या को परिवर्तित कर देता है जिससे पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्वरूप विकृत हो जाता है।

वर्तमान में हमारे सामने दो बहुत बड़े संकट हैं – निर्मानवीकरण (डी-ह्यूमेनाइजेशन) और निर्भारतीकरण (डी-इंडियनाइजेशन) को निर्मानवीकरण के तथ्य को समझने की आवश्यकता है। सब जानते हैं कि मनुष्य संसार का सर्वोत्तम/सर्वोच्च विकसित सामाजिक अस्तित्व है। यदि वह 'वह' नहीं रहेगा तो हमारे चारों ओर जो कुछ अस्तित्व है वह सब चरमरा कर ढह जायेगा। आज हिंसा, क्रूरता, लोभ, लिप्सा और अन्तहीन अन्धी इच्छाओं की अतृप्ति का जो दौर है उसने मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने दिया है। कत्लखानों और मांस-उद्योग के रूप में हिंसा और क्रूरताएँ निरन्तर बढ़ रही हैं। आज हिंसा अधिक सुव्यवस्थित/वाणिज्यीकृत/राज्याश्रित है जबकि अहिंसा और सत्य दोनों ही अनाथ/अशरण हैं। इस बारे में हमें चिन्तित होना चाहिए। इस सिलसिले में हमारा पहला कदम यह हो कि हम बिना किसी ढील के 'संस्कृति' और 'विकृति' के अन्तर को समझें और भावावेश में नहीं, अपितु तर्क संगत शैली में विकृतियों का मुकाबला करें।[5]

दूसरा संकट निर्भारतीयकरण का है। हम भारत के निवासी हैं। भारत हमारी रग-रग में है/हो। भारत और अहिंसा, भारत और करुणा, भारत और अस्तित्व, भारत और सत्य पर्याय शब्द रहे हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने भारतीयता पर सीधा प्राणान्तक प्रहार किया है। निर्भारतीयकरण का सीधा मतलब है – भारतीयों को भारतीय परम्पराओं से स्खलित करना। व्यसनों का तेजी से बढ़ते जाना और सदाचारपूर्ण जीवन का लगातार लोप होना - भारी चिन्ता का विषय है। केंटुकी फ्राइड, चिकन, पीजा हट, मैकडोनाल्ड जैसी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने हमारे खान-पान की जो बुनियादी संरचना थी, उसे तार-तार कर दिया है। हमारे समुद्र-तट पर शृंगार-प्रसाधनों की तकनीकों का जो जखीरा उतर रहा है उससे आनेवाली पीढ़ी में विचलन का सौ फीसदी संकट पैदा हो गया है। वह भारतीय संस्कृति को हेय और पश्चिम की संस्कृति को ग्राह्य मानने लगी है। मांसाहार, अण्डाहार, मत्स्याहार, शराबखोरी, धूम्रपान, नशीले पदार्थों का बेरोक-टोक सेवन और अब्रह्मचर्य के अन्धे दौर ने विकृतियों के लिए काफी बड़ी और लम्बी दरार उत्पन्न कर दी है। यह दरार हमारी सांस्कृतिक पराजय का सबसे बड़ा कारण बनने वाली है।[6]

इन संकटों का मूल कारण है मानव का सदाचार-विहीन जीवन। सदाचार-विहीनता का कारण है उसका व्यसनी होना। व्यसन मानव-जीवन, परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए अभिशाप है; अमानवीय असामाजिक, अनैतिक हिंसक आचरण है; पतन का द्वार है। पतन से बचने के लिए, संकटों से मुक्त होने के लिए आवश्यक है कि हम मुनि कनकामर द्वारा करकंडचरिउ में प्रतिपादित व्यसन-मुक्ति के सन्देश को वर्तमान सन्दर्भ में समझें। स्वयं को, अपने परिवार को व्यसनों से मुक्त रखने का प्रयास करें। व्यसन-मुक्त होने पर ही तन-मन निर्मल एवं

स्वस्थ होगा, अहिंसा, दया, करुणा, मैत्री, मानवता आदि सात्विक भावों का उदय होगा। अपराध-वृत्ति, राष्ट्रद्रोह जैसे अनैतिक कार्यों से विरत हो सकेंगे, पर्यावरण विशुद्ध, संतुलित एवं संरक्षित होगा तथा सभी सदाचारयुक्त, सुख-शान्तियुक्त जीवन जी सकेंगे।

---

1. करकण्डचरिउ, मुनि कनकामर, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 9.19.19।
2. वही, 9/2/16-18।
3. व्यसन-मुक्ति का आह्वान, ऐलक श्री सिद्धान्तसागर, पृष्ठ 17-18।
4. वही, पृष्ठ 24।

5-6-7. 'तीर्थंकर' (मासिक), डॉ. नेमीचन्द, मार्च 96, पृष्ठ 13-14।

मील रोड
गंजबासोदा, म.प्र.
पिन - 464221